

# बचपन से पलायन

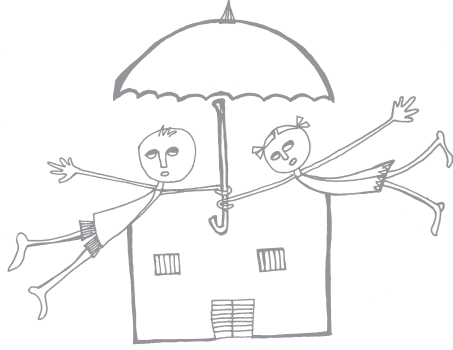
बच्चों की आवश्यकताएँ व अधिकार

जॉन होल्ट

अंग्रेज़ी से अनुवाद

पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

एकलव्य का प्रकाशन



## बचपन से पलायन

### Bachpan se palayan

लेखक : जॉन होल्ट

अंग्रेज़ी से अनुवाद : पूर्वा याज्ञिक कुशवाहा

रेखांकन : मनस्विनी ल. र.

आवरण चित्र : आँगनवाड़ी कार्यकर्ताओं के लिए अलारिप्पु द्वारा तैयार डायरी-कैलेण्डर (1988-1990) से साभार

अक्टूबर 2005 / 2000 प्रतियाँ

80 gsm मेपलिथो एवं 300 gsm आर्टकार्ड (कवर) पर प्रकाशित

**मूल्य : 90.00 रुपए**

ISBN 81-87171-63-4

### प्रकाशक : एकलव्य

ई-7/453 एच.आई.जी., अरेरा कॉलोनी

भोपाल - 462016 म.प्र.

फोन : (0755) 246 3380

फैक्स : (0755) 246 1703

ई मेल : [eklavyamp@mantrafreenet.com](mailto:eklavyamp@mantrafreenet.com)

मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, भोपाल, म.प्र. फोन 255 0291, 255 5442

# विषयवस्तु

आभार v

प्राक्कथन vii

1. बाल्यावस्था की समस्या / 2
2. बाल्यावस्था की संस्था / 8
3. इतिहास में बाल्यावस्था / 16
4. परिवार तथा उसके उद्देश्य / 28
5. बड़ों की सत्ता का लोप / 36
6. जीवन की असंख्य “विपदाएँ” / 41
7. बच्चों का बोझ / 46
8. बाल्यावस्था का एक उपयोग / 55
9. “मदद” व “मददगार” / 57
10. बच्चों की क्षमताएँ / 64
11. प्रेम का पात्र बच्चा / 76
12. बच्चों को “प्यारे-प्यारे” मानना / 84
13. बच्चे प्यारेपन को कैसे भुनाते हैं / 92
14. प्यार हर चीज़ का उपचार नहीं हो सकता / 100
15. जो बच्चों की आवश्यकताएँ हैं, वही हमारी भी हैं / 110
16. “अधिकार” शब्द के उपयोग पर / 116
17. मताधिकार / 120
18. काम करने का अधिकार / 133
19. सम्पत्ति का अधिकार / 148
20. यात्रा का अधिकार / 153
21. अभिभावक चुनने का अधिकार / 162
22. सुनिश्चित आय का अधिकार / 174
23. कानूनी व वित्तीय दायित्व का अधिकार / 177
24. अपने शिक्षण को नियंत्रित करने का अधिकार / 191
25. नशीली दवाओं के उपयोग का अधिकार / 198
26. वाहन चलाने का अधिकार / 213
27. कानून, युवा तथा सेक्स / 216
28. कदम जो उठाए जाने चाहिए / 222





पाँचवीं कक्षा के बच्चों के साथ जॉन होल्ट

## आभार

बच्चों, वयस्कों के साथ उनके सम्बन्धों तथा समाज में उनके स्थान पर वर्षों तक मेरा सोचना-विचारना चलता रहा। इसमें मुझे मेरी बहनों जेन पिचर तथा सूसन बॉन्टेक, और मेरे मित्रों तथा सहकर्मियों पैगी ह्यू, टैरी क्रॉस तथा मार्गोट प्रीस्ट की बहुत मदद मिली। इस पुस्तक की तैयारी के हर चरण में मार्गोट प्रीस्ट ने मुझसे चर्चाएँ कीं और अपने मूल्यवान सुझाव व अन्तर्दृष्टियाँ जोड़ीं।

पॉल गुडमैन ने अपनी पुस्तक *ग्राइंग अप एब्सर्ड* तथा बाद में पीटर मान ने अपने आलेख “द ओपन ट्रुथ एण्ड फायरी वेहमन्स ऑफ यूथ” के द्वारा पहले-पहल मेरे मन में यह विचार जगाया था कि आधुनिक बाल्यावस्था शायद उतनी सुखद न हो। जे.एच. वैन डेन बर्ग की पुस्तक *द चेंजिंग नेचर ऑफ मैन* पढ़कर लगा कि यह विचार बिलकुल ही नया है। इसके बाद मैंने उस पुस्तक से बहुत कुछ सीखा जो अब आधुनिक बाल्यावस्था के इतिहास की मूल पाठ्य पुस्तक बन चुकी है। यह पुस्तक थी फिलिप एरिस की *सेन्चुरीस ऑफ चाइल्डहुड*। एलिज़ाबेथ जेनवे की पुस्तक *मैनस् वर्ल्ड, वुमेन्स प्लेस*, शूलामिथ फायरस्टोन की *द डायलैक्टिक्स ऑफ सेक्स* तथा एडगर फ्रीडनबर्ग की युवाओं पर कई पुस्तकें व आलेख पढ़कर भी मुझे महत्वपूर्ण व अतिरिक्त जानकारी और अन्तर्दृष्टि मिल सकी।

उपरोक्त सभी के प्रति मैं कृतज्ञ हूँ। मैं उन सभी के प्रति भी अपना आभार प्रकट करना चाहता हूँ जिन्होंने इन विचारों पर मुझसे चर्चाएँ कीं।

जॉन होल्ट



## 1. बाल्यावस्था की समस्या

यह पुस्तक बच्चों और किशोरों के विषय में है, आधुनिक समाज में उनके स्थान, या कहें स्थान के अभाव के विषय में है। यह पुस्तक आधुनिक बाल्यावस्था की संस्था पर है। उन दृष्टिकोणों, प्रथाओं और नियमों के विषय में है जो आधुनिक जीवन में बच्चों को परिभाषित व स्थापित करते हैं, और काफी हद तक यह तय करते हैं कि बच्चों के जीवन कैसे होंगे और हम, अर्थात् उनके बड़े-बुजुर्ग, उनसे कैसा व्यवहार करेंगे। मुझे लगता है कि बाल्यावस्था कई अर्थों में उन अधिकांश बच्चों के लिए बड़ी खराब अवस्था है जिन्हें इसके तहत जीना पड़ता है। इसे बदलना चाहिए। और इसे कैसे बदला जाए यह भी इस पुस्तक की विषयवस्तु है।

एक लम्बे समय तक इस संस्था पर सवाल उठाने का विचार तक मुझे नहीं सूझा था। हाल ही के वर्षों में मैं सोचने लगा कि क्या बच्चों और किशोरों के जीने के अन्य व बेहतर तरीके भी हो सकते हैं। अब मुझे लगने लगा है कि “बच्चा” होना, पूरी तरह अधीन व परावलम्बी होना, अपने बड़ों द्वारा एक महँगे सिरदर्द, एक गुलाम या पालतू जीव के रूप में देखा जाना, उन्हें फायदे से कहीं अधिक नुकसान पहुँचाता है।

मेरा प्रस्ताव है कि हम वयस्क नागरिकों के हक, विशेषाधिकार, दायित्व व जिम्मेदारियाँ उन बच्चों को भी उपलब्ध कराएँ जो उन्हें उठाना चाहते हों। फिर उनकी आयु कुछ भी क्यों न हो। इसमें तमाम दूसरी चीजों के साथ निम्नांकित बातें भी शामिल होंगी :

1. कानून से समान व्यवहार पाने का अधिकार, अर्थात् बच्चों से किसी भी स्थिति में किसी वयस्क से अधिक खराब व्यवहार न किया जाए।
2. मत देने का और राजनैतिक मामलों में पूर्ण भागीदारी का अधिकार।
3. अपने जीवन तथा कृत्यों के विषय में कानूनी रूप से जिम्मेदार होने का अधिकार।
4. पैसों के लिए काम करने का अधिकार।
5. एकान्तता (प्राइवैसी) का अधिकार।

6. वित्तीय स्वतंत्रता व दायित्व का अधिकार, अर्थात् सम्पत्ति रखने, खरीदने या बेचने, ऋण लेने, साख स्थापित करने, अनुबन्ध करने का अधिकार।
7. अपनी शिक्षा को स्वयं निर्देशित व प्रबन्धित करने का अधिकार।
8. यात्रा करने, घर से अलग रहने, अपना घर स्वयं चुनने या बनाने का अधिकार।
9. सरकार जो न्यूनतम सुनिश्चित आय वयस्कों को उपलब्ध करवाती है, ठीक वही आय प्राप्त करने का अधिकार।
10. पारस्परिक सहमति से अपने परिवार के अतिरिक्त दूसरे लोगों से अर्द्ध-पारिवारिक रिश्ते बनाने और स्थापित करने का अधिकार। अर्थात् अपने माता-पिता के अलावा किसी व्यक्ति को अपने अभिभावक के रूप में स्वयं चुनने का तथा कानूनी रूप से उस पर निर्भर बनने का अधिकार।
11. सामान्यतः वह सब करने का अधिकार जो कोई वयस्क कानूनी रूप से कर सकता है।

मैंने अपनी सूची को महत्ता के क्रम में बनाने की कोशिश नहीं की है। सम्भव है कुछ बच्चों और किशोरों को एक अधिकार सबसे महत्वपूर्ण लगे तो दूसरों को कोई दूसरा ही। ना ही मैं यह कहना चाह रहा हूँ कि इस सूची में समेटे गए सभी अधिकार या दायित्व एकमुश्त हों, यानी अगर किसी बच्चे या किशोर को इनमें से कोई एक पसन्द हो तो उस पर शेष भी लाद दिए जाएँ। उसे इनमें से चुनने का अधिकार हो। परन्तु फिर भी इस सूची में कुछ अधिकार ऐसे भी हैं जो स्वाभाविक रूप से दूसरे अधिकारों से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के लिए, यात्रा का या स्वयं अपना घर चुनने का अधिकार उस स्थिति में निरर्थक सिद्ध होगा जब उस बच्चे को कानूनी व वित्तीय ज़िम्मेदारी का, काम करने और आय प्राप्त करने का अधिकार न हो।

इनमें से कुछ अधिकार कानून, प्रथाओं तथा दृष्टिकोणों सम्बन्धी बदलावों से दूसरों के बनिस्बत कहीं अधिक जुड़े हैं और उन पर निर्भर हैं। अतः सम्भवतः हम चौदह वर्ष के किसी किशोर को वाहन चलाने का अधिकार मतदान के अधिकार से पहले दे दें। और मतदान का अधिकार विवाह करने के अधिकार या अपने यौन जीवन को स्वयं नियंत्रित करने के अधिकार से पहले दे दें। और यह भी सम्भव है कि बेरोज़गारी और गरीबी को सहने वाले 1973 के संयुक्त राज्य अमरीका जैसे समाज में बच्चों और किशोरों को काम करने के अधिकार कभी मिले ही नहीं। किसी भी देश को गरीबी हटाने के लिए और रोज़गार का ऊँचा स्तर बनाए रखने के लिए स्वीडन या डेनमार्क की तरह कठोर राजनैतिक निर्णय लेने होंगे। और केवल तब ही उस देश के वयस्क बच्चों को उन



नौकरियों के लिए खुद से स्पर्धा करने की इजाज़त देंगे। इसी तर्क के आधार पर कोई भी समाज अपने बच्चों और किशोरों को कानून की नज़र में समानता का अधिकार उस स्थिति में कभी देगा ही नहीं जब वह समाज वयस्क महिलाओं या किसी खास नस्ल के सदस्यों या अल्पसंख्यकों को यह अधिकार न देता हो।

मैं जिन परिवर्तनों की पैरवी कर रहा हूँ वे एकबारगी नहीं आएँगे। अगर वे कभी आते भी हैं, तो उनका आगमन एक धीमी प्रक्रिया होगी, जिसमें कई सालों तक कुछ कदम उठाए जाएँगे। हाल में हमने मतदान के अधिकार के लिए न्यूनतम आयु इक्कीस वर्ष से घटाकर अठारह वर्ष कर दी है। हमें इसे और कम कर सोलह या पन्द्रह और फिर क्रमशः चौदह या बारह कर डालना चाहिए। ताकि यह बाधा तथा वे तमाम अन्य बाधाएँ भी पूरी तरह खत्म हो जाएँ जो युवाओं को अपने इर्दगिर्द की दुनिया में गम्भीर, स्वतंत्र तथा ज़िम्मेदार भागीदारी से रोकती हैं। पर इसमें समय लगेगा। सम्भव है कि यह विलम्ब ज़रूरी भी हो।

एक अश्वेत महिला ने एक बैठक में आधुनिक युग में बाल्यावस्था के सवाल पर चर्चाएँ सुनने के बाद मुझसे विनम्रता से, पर साग्रह पूछा कि जब हमारे सामने इतनी अधिक गम्भीर और दुखद समस्याएँ हैं तो मैं क्योंकर इस समस्या विशेष पर लिखने-बोलने में समय लगाता हूँ। पहली बात पहले क्यों नहीं उठाता हूँ। उनके दिमाग में ज़रूर अमरीका में बसे (और शायद दूसरे देशों के भी) अश्वेतों की समस्या रही होगी। प्रजाति, लिंग, आयु, नस्लभेद या गरीबी आदि के बजाए बाल्यावस्था में दमन की तमाम समस्याओं, जिनसे मेरा सरोकार है, को चुनने के कई कारण हैं। पहला तो यह कि मेरा यह सरोकार और मेरी मान्यताएँ एक शिक्षक, एक छात्र और तमाम बच्चों के मित्र के रूप में मेरे निजी अनुभवों से उपजे हैं। दूसरे, मैं स्वयं को इस विषय पर बच्चों का बिन बुलाया प्रवक्ता बना चुका हूँ। इसलिए क्योंकि दूसरे प्रवक्ता हैं ही नहीं और बच्चे स्वयं अपना पक्ष रख पाने की स्थिति में नहीं हैं। तीसरे, मैं इस उम्मीद से यह सब लिखता हूँ कि जो पाठक यह मान लें कि मैं बच्चों का आदर करता हूँ, उनका शुभचिन्तक हूँ, वे शायद मेरी बात अधिक खुलेपन से सुनें, चाहे उन्हें मेरा कहा कितना ही विचित्र या डरावना क्यों न लगे।

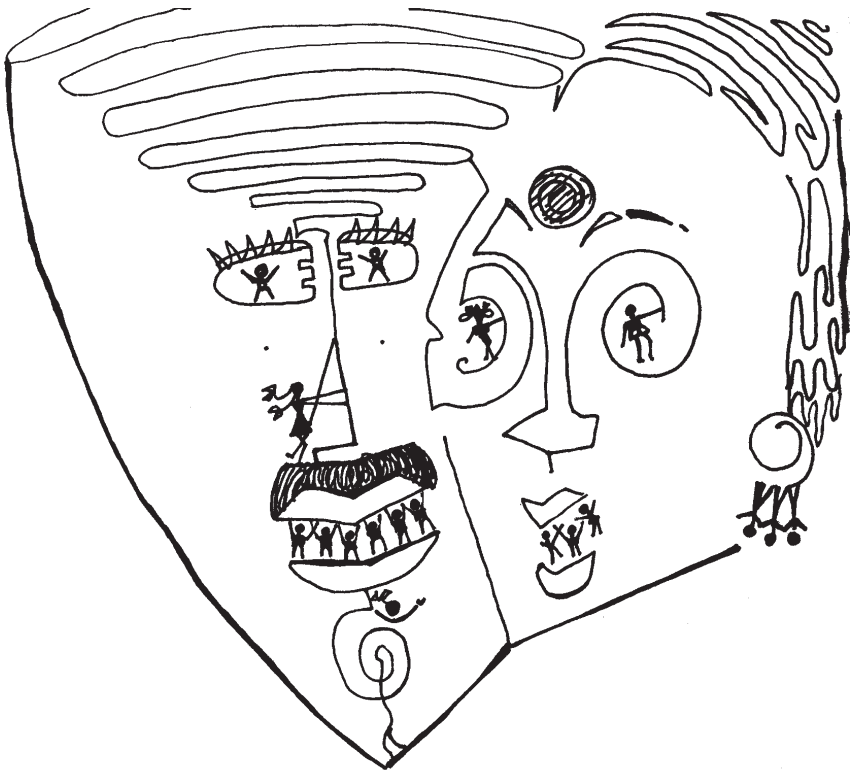
पुराने विचारों और प्रथाओं को बदलना कभी आसान नहीं होता। किसी ने अपनी दादी के बारे में लिखा था कि कोई नया विचार सुनने के बाद उनकी प्रतिक्रिया दो प्रकार की होती थी। पहली, यह पागलपन है, और दूसरी, मैं हमेशा से यह जानती थी। जिन बातों को हम जानते हैं और जिन पर हमारा विश्वास है, वे दरअसल हमारा ही हिस्सा हैं। हमें लगता है कि वे हमें हमेशा से पता थीं। उससे इतर कोई भी बात, जो हमारे ज्ञान के ढाँचे में ठीक से नहीं

बैठती, या वास्तविकता के हमारे अपने मानसिक प्रारूप से भिन्न लगती है, हमें विचित्र, जंगली, डरावनी, खतरनाक और असम्भव भी लगती है। लोग जिस चीज़ के आदी हों उसका पक्ष ज़रूर लेते हैं, फिर चाहे वह उन्हें कितना ही नुकसान क्यों न पहुँचा रही हो। इस पुस्तक में मैं जो परिवर्तन प्रस्तावित कर रहा हूँ, उन्हें लेकर कोई भी आशान्वित नहीं है। आगे क्या कुछ होगा, यह भी कोई नहीं जानता। मैं सिर्फ इतना ही कह सकता हूँ कि अगर हम एक ऐसा समाज, ऐसी दुनिया बनाना चाहते हैं जिसमें लोग न केवल जी पाएँ बल्कि खुश होकर जिएँ, जिसमें जीना अपने आप में उन्हें अधिक समझदार, जिम्मेदार और सक्षम बनाए, तो फिर कुछ चीज़ों को हमें एकदम अलग तरह से करना सीखना ही होगा।

इन परिवर्तनों के प्रति शंकालु लोग पूछ सकते हैं, “अगर हम यह मान भी लें कि आपके द्वारा प्रस्तावित परिवर्तन एक बेहतर वास्तविकता ला सकते हैं, तो क्या आप यह भी सिद्ध कर सकते हैं कि वह वास्तविकता बेहतर बनी रहेगी? क्या वह अपनी ही तरह से दूसरी समस्याएँ, खतरे और विपत्तियाँ नहीं उपजाएगी?” उत्तर है, हाँ, ऐसा होगा। कोई भी स्थिति स्थाई रूप से आदर्श नहीं रहती। पुराने अनिष्टों के इलाज जल्दी ही नए अनिष्ट, नई विपत्तियाँ पैदा करते हैं। हम केवल इतना भर कर सकते हैं कि जिसे हम आज गलत मानते हैं उसका इलाज करें और नई विपत्तियों से तब निपटें जब वे सामने आएँ। ज़ाहिर है कि भविष्य में हमें अतीत में सीखे हुए को काम में लेने की कोशिश करनी होगी। यह सच है कि अनुभव से काफी कुछ सीखा जा सकता है, पर सब कुछ नहीं। हम अपने द्वारा रचे गए भविष्य की कुछ समस्याओं का पूर्वानुमान लगा सकते हैं, उनको टालने के उपाय कर सकते हैं, पर सभी समस्याओं का अनुमान लगाना, उन्हें टालना असम्भव है।

कई दूसरों की तरह पहले मैं भी सोचता था कि लोग चर्चा, विवाद या जिसे कुछ लोग “संवाद” कहते हैं, के द्वारा सत्य तक पहुँचते हैं। यह मानो संघर्ष द्वारा सच को स्थापित करने जैसा था। हरेक अपना तर्क एक घोड़े पर रखता, तब उसे दूसरे के तर्क की ओर पूरी गति से छोड़ देता। जिसका घोड़ा दूसरे को धराशाई करता, वही संघर्ष जीत लेता। और तब दूसरे को कहना पड़ता, “तुम जीते, तुम सही हो।” परन्तु समय और अनुभव ने सिद्ध कर दिया है कि यह महसूस करवा देने से कि उसके विचार बेवकूफी भरे, तर्कहीन और असंगत हैं, व्यक्ति न तो बदलता है, न उसे जीता ही जा सकता है। अब मेरे नज़रिए में दुनिया जैसी है, और जैसी हो सकती है, दोनों ही शामिल हैं। मैं इसे उन लोगों के साथ बाँट सकता हूँ जो इसे देखना चाहते हों। पर इसे मैं दूसरों के दिमाग में रोप नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति वास्तविकता का अपना ही प्रारूप

बनाता है। अपने अनुभव का प्रकाश अगर मैं डालूँ तो सम्भव है कि वे चीज़ों को ज़रा भिन्न ढंग से देखें और वास्तविकता का अपना नया ही सपना रचें। जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, यह साफ है कि अगर ये बदलाव आएँगे तो विभिन्न कदम उठाने पर ही आ सकेंगे। ज़ाहिर है कि इन कदमों को उठाने में सालों-साल लगेंगे। और जब तक दूसरे प्रकार के सामाजिक बदलाव नहीं हो जाते, या हो रहे हों, तो ये सम्भव भी नहीं होंगे। ऐसे बदलावों को कितना बड़ा होना होगा? कुछ लोग कहेंगे - व्यापक। मैं जो प्रस्तावित कर रहा हूँ वह किसी बुद्धिमान, ईमानदार, दयालु और मानवतावादी देश में ही सम्भव हो सकता है। ऐसे देश में जहाँ लोग दूसरों को पछाड़कर अक्ल नम्बर पर खुद को देखने को आतुर न रहते हों। या भयानक गरीबी, निरर्थकता और असफलता की दहशत में न जीते हों। एक दूसरे का शोषण या लूटमार न करते हों। पर शायद ये बदलाव किसी ऐसे देश में भी सम्भव हों जहाँ उपरोक्त बातें न हों। बात दरअसल यह है कि बदलाव सम्भव है या नहीं इसकी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। असल बात है वह सब करना जो हम कर सकते हैं।



## 2. बाल्यावस्था की संस्था

एक अर्थ में बाल्यावस्था मानवीय जीवन की एक संस्था न होकर उसका एक तथ्य है। जन्म के समय हम जीने के लिए दूसरों की देखभाल पर निर्भर होते हैं। वे ही हमें खिलाते-पिलाते हैं, हमें साफ रखते हैं, सर्दी-गर्मी से बचाते हैं और सभी प्रकार के खतरों से हमारी रक्षा करते हैं। इस मामले में हम पशुओं के समान हैं। पर पशुओं की तरह हम अपनी असहायता और दूसरों पर निर्भरता की स्थिति से कुछ महीनों में नहीं निकल पाते। हमें इसमें सालों-साल लगते हैं। यह बचपन की सच्चाई है। ऐसी सच्चाई जो उतनी ही पुरानी है जितना पुराना स्वयं मनुष्य है। पर सच्चाई यह भी है कि जैसे-जैसे हम बड़े होते जाते हैं, हम अपनी देखभाल स्वयं करने में भी अधिक सक्षम होते जाते हैं।

जिन दिनों मैं कॉलोरेडो के एक स्कूल में पढ़ा रहा था, इटली से दो जुड़वाँ लड़के वहाँ आए। स्कूल से कुछ दूर एक घाटी में रहने वाले एक अमरीकी सज्जन कुछ साल पहले इटली यात्रा पर गए थे। उन्होंने वहाँ इन जुड़वाँ बच्चों के बारे में सुना और उन्हें गोद ले लिया। उस वक्त ये बच्चे काफी छोटे, शायद चार या पाँच साल के थे। उनके माता-पिता द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान गायब हो गए थे। सम्भव है वे मारे गए हों या फिर बन्दी बना लिए गए हों। फिर भी इन बच्चों ने अपने आपको कई सालों तक बचाए रखा। वे एक ऐसे देश के बड़े शहर में रहे जो युद्ध से त्रस्त और खण्डित था। भयानक गरीबी और विपन्नता के बावजूद उन्होंने किसी तरह अकेले ही खुद की देखभाल की। उन्होंने एक कब्रिस्तान में पनाह ली, भीख माँगी, ज़रूरत पड़ने पर चोरी भी की। कई सालों बाद अधिकारियों को उनका पता चला और उन्हें राजकीय प्रश्रय में लिया गया। जब इस अमरीकी सज्जन को उनके बारे में पता चला उस वक्त वे एक अनाथाश्रम में रह रहे थे। उन्होंने इनकी परवरिश और शिक्षा में रुचि ली। उन बच्चों को कुछ समय के लिए हमारे स्कूल में भेजा गया। अमरीकी सज्जन को लगा कि अंग्रेज़ी सीखना इन बच्चों के लिए अच्छा होगा और शायद यहाँ वे नई भाषा अच्छी तरह सीख पाएँगे।

कोई यह न समझे कि मैं यह कह रहा हूँ कि कब्रिस्तान में अकेले रहना छोटे बच्चों के लिए सही है, या यह कि अपनी परिस्थितियों को लेकर इन दोनों

भाइयों की जो प्रतिक्रिया थी, वह सभी बच्चों की स्वाभाविक या सामान्य प्रतिक्रिया होती है। फिर भी यह तथ्य था कि अपने अनुभवों का उनमें कोई गहरा या स्थाई आघात नज़र नहीं आया। अपनी उम्र के अमरीकी बच्चों की तुलना में उनका कद छोटा ज़रूर था, पर वे फुर्तीले थे, ताकतवर और सन्तुलित थे और स्कूल के सबसे अच्छे सॉकर खिलाड़ी भी थे। वे अच्छे छात्र नहीं थे, और अंग्रेज़ी सीखने में उनकी खास रुचि नहीं थी - बोलोग्ना में इसका भला क्या उपयोग होता? लेकिन उनका व्यवहार दोस्ताना था। वे जीवन्त, जिज्ञासु और उत्साही थे। भाषा की बाधा के बावजूद स्कूल में जानने वाले सब बच्चे उन्हें पसन्द करते थे। ज़ाहिर है लोग जितना सोचते हैं उससे काफी पहले ही हम अपनी शारीरिक असहायता और निर्भरता से मुक्त हो सकते हैं।

अगर हम मानव जीवन को एक वक्र रेखा के रूप में देखें तो पाएँगे कि वह जन्म से प्रारम्भ होती है तथा शारीरिक, मानसिक व सामाजिक क्षमताओं के शिखर तक उठती है। फिर कुछ समय तक पठार पर टिकती है और तब धीमे-धीमे वृद्धावस्था और मृत्यु की दिशा में नीचे उतरती है। यह वक्र रेखा सभी मनुष्यों में भिन्न-भिन्न होती है। कभी अकाल मृत्यु से झटके से खत्म भी हो जाती है। पर प्रत्येक मनुष्य में यह एकल वक्र के रूप में होती है, समग्रता लिए हुए। यह सतत बढ़त और परिवर्तन का वक्र है। किसी न किसी रूप में हम हर दिन गुज़रे दिन से कुछ अलग होते हैं। यह विकास और बदलाव निरन्तरता लिए है। इसमें कोई टूटन या रिक्त स्थान नहीं होते। हम कुछ कीटों की तरह अचानक एक झटके से, एक प्रकार के जीव से दूसरे प्रकार के जीव में रूपान्तरित नहीं हो जाते।

यहाँ बाल्यावस्था का तथ्य समाप्त हो जाता है और उसका संस्थागत रूप प्रारम्भ होता है। आज जिसे हम बाल्यावस्था कहते हैं, वह जीवन वक्र की उस समग्रता को दो हिस्सों में काट देती है। एक को हम बाल्यावस्था कहते हैं, तो दूसरे को वयस्कावस्था या परिपक्वता। इससे मानव जीवन में एक गहरी खाई खुद गई है। हम यह मानने लगे हैं कि इस खाई के दोनों ओर रहने वाले, बच्चे और वयस्क, भिन्न-भिन्न हैं। हम यँ व्यवहार करते हैं मानों एक सोलह वर्षीय किशोर और एक बाईस वर्षीय युवक में जो अन्तर है, वह एक दो वर्षीय बालक और सोलह वर्षीय किशोर से कहीं अधिक है। इसलिए क्योंकि अपने जीवन पर नियंत्रण रखने और महत्वपूर्ण विकल्पों के चयन के मामलों में एक सोलह वर्षीय किशोर की स्थिति एक बाईस वर्षीय युवक की तुलना में एक दो वर्षीय बालक के कहीं अधिक निकट है।

संक्षेप में, संस्थागत बाल्यावस्था से मेरा आशय उन दृष्टिकोणों, भावनाओं, रिवाज़ों तथा नियमों से है जो एक बच्चे और उसके बुजुर्गों के बीच गहरी खाई

खोदते हैं या बाधाएँ खड़ी करते हैं। इससे बच्चों और युवाओं को अपने इर्द-गिर्द के व्यापक समाज से सम्पर्क स्थापित करने में कठिनाई आती है, या यह सम्पर्क असम्भव हो जाता है। और तो और वे समाज में किसी प्रकार की सक्रिय जिम्मेदार या उपयोगी भूमिका भी नहीं निभा पाते। और यँ हम उन्हें अठारह या उससे कुछ अधिक वर्षों के लिए अधीनता और निर्भरता में कैद कर देते हैं और एक खर्चीली मुसीबत, नाजूक धरोहर तथा गुलाम व पालतू जीव का मिलाजुला रूप दे देते हैं।

कुछ समय तक मैंने इस पुस्तक को “बचपन का कारागार” शीर्षक देना चाहा था या मित्रों के सुझाव पर शीर्षक में “मुक्ति” शब्द का उपयोग करना चाहा था। पर एक दोस्त को *बचपन का कारागार* पर आपत्ति थी। उनका कहना था कि इससे ऐसी ध्वनि आती है मानो जो भी बाल्यावस्था की संस्था का समर्थक है वह बच्चों को नापसन्द करता है, उन्हें किसी तरह की कैद में रखना चाहता है। उन्होंने कहा कि दरअसल यह सच नहीं है। जो लोग बच्चों के लालन-पालन के मौजूदा तौर-तरीकों में विश्वास करते हैं, वे इस पुस्तक में प्रकट किए गए अधिकांश विचारों को सख्त नापसन्द भी करेंगे। फिर भी ये वे लोग हैं जो बच्चों से प्यार करते हैं और जो चीज़ उनकी नज़र में बच्चों के लिए सबसे उत्तम है, वे वही करना चाहेंगे।

मैं सहमत हुआ और “कारागार” तथा “मुक्ति” दोनों शब्दों को छोड़ दिया। क्योंकि इनका निहितार्थ यह होता कि बच्चों को उस खराब जगह से निकालना चाहिए जहाँ दुष्ट लोगों ने उन्हें बन्दी बना रखा है। यह ध्वनि “पलायन” शब्द में नहीं आती। अगर हम घर में हों और उसमें आग लग जाए या हमारी नाव डूबने लगे तो हम उससे ज़रूर पलायन करना चाहेंगे। पर इसका मतलब यह नहीं लगाया जाएगा कि कोई हमें बहला-फुसलाकर घर या नाव में ले गया था। साथ ही “पलायन” एक क्रिया है, किसी कर्म को करने का संकेत इस शब्द में है। किसी खतरे से पलायन करने के लिए हमें पहले यह तय करना पड़ता है कि *खतरा* है, और तब ऐसा कुछ करना पड़ता है जिससे उस खतरे से दूर हुआ जा सके। मैं चाहता भी हूँ कि बच्चों और किशोरों को स्वयं ही यह निर्णय लेने का अधिकार हो, और तब उसके लिए कुछ करने का भी अधिकार हो।

बाल्यावस्था की हमारी मौजूदा संस्था में विश्वास करने वाले ज़्यादातर लोग उसे दीवारों से घिरे एक बाग के रूप में देखते हैं। ऐसा बाग जहाँ छोटे और कमज़ोर बच्चों को बाहरी दुनिया की कठोरता से तब तक सुरक्षित रखा जाता है जब तक वे उससे निपटने के लिए बलवान और चतुर नहीं बन जाते। बाल्यावस्था को कुछ बच्चे ठीक इसी प्रकार अनुभव भी करते हैं। मैं उनका बाग न तो उजाड़ना चाहता हूँ, न लतियाकर बच्चों को वहाँ से खदेड़ना चाहता

हूँ। अगर उन्हें वह पसन्द है तो बेशक वे वहाँ रहें। परन्तु मेरा विश्वास है कि अधिकांश बच्चे व किशोर काफी कम उम्र में ही यह महसूस करने लगते हैं कि बचपन एक बगिया नहीं, कैदखाना है। मैं जो करना चाहता हूँ वह है बाग को घेरने वाली दीवार में एक दरवाज़ा या कुछ दरवाज़े बनाना। ताकि जिन्हें वहाँ सुरक्षा का अहसास न होता हो या मदद न मिलती हो, बल्कि घुटन और अपमान महसूस होता हो, वे कुछ समय के लिए बाहर निकल सकें, एक अधिक बड़े स्थान में जीने की कोशिश करें। पर अगर वे ऐसा न कर पाएँ तो हमेशा वापस बाग में लौट सकें। और अगर हमें ज़रूरत महसूस हो तो शायद दीवारों से धिरे बाग में हमारे लिए भी पनाह लेने की जगह होनी चाहिए।

मैं यह नहीं कह रहा कि बचपन सभी बच्चों के लिए हमेशा ही एक बुरी चीज़ है। परन्तु कई बच्चों के लिए बचपन का अनुभव खुशनुमा, निरापद, सुरक्षित और निष्कपट नहीं होता। कुछ दूसरे बच्चों के लिए बचपन का अनुभव सकारात्मक होने के बावजूद ज़रूरत से ज़्यादा खिंचता जाता है। उससे बाहर निकल पाने या उसे पीछे छोड़ देने का कोई क्रमिक, सूझबूझ भरा और कष्टरहित रास्ता भी ऐसे बच्चों के सामने नहीं होता।

कुछ बच्चों के परिवार नहीं होते। माता-पिता का देहान्त हो चुका होता है या वे बच्चों को त्याग चुके होते हैं, या फिर कानून ही उन्हें उनके माँ-बाप से छीन लेता है, शायद इसलिए कि उन्होंने बच्चों को मारा-पीटा हो या उनकी उपेक्षा की हो। या इसलिए कि उनकी राजनीति पर ही सरकार को आपत्ति हो। जिन बच्चों के परिवार नहीं होते वे सरकार के आश्रय में होते हैं। अर्थात् वे बन्दी होते हैं। कानून इसमें बच्चों को कोई विकल्प नहीं देता। अगर आप एक बच्चा नहीं बने रह सकते (या नहीं बने रहना चाहते हैं) तो फिर आप किसी जेल में रखे गए अभियुक्त मात्र हो सकते हैं, जहाँ आप पर ऐसे लोग नज़र रखेंगे जिनका एकमात्र सरोकार है भागने से आपको रोकना।

कई बच्चे सामान्य लगने वाले परिवारों में सामान्य लगने वाला जीवन बिताते हैं। पर उनका बचपन कुछ अर्थों में निरापद होते हुए भी सुखद, सुरक्षित या निरापद नहीं होता। बल्कि इसके विपरीत उनका शोषण होता है। उन्हें धमकाया और अपमानित किया जाता है। उनसे दुर्व्यवहार किया जाता है। परन्तु अगर उन्हें कुछ समय तक अपने माता-पिता या प्रतिस्पर्धी भाइयों या बहनों से दूर रहने का अवसर मिल पाता तो ऐसे परिवारों में जीना भी बच्चों के लिए इतना दुखदाई और विनाशकारी नहीं होता।

कुछ ऐसे भी बच्चे होते हैं जिनका बचपन सुखद और आदर्श होने के बावजूद एक लम्बे अर्से तक चलता ही चला जाता है। कई परिवारों में, जिनसे मैं अच्छी



तरह वाकिफ हूँ, बच्चे लम्बे समय तक अपने माता-पिता के साथ बेहद खुश रहते हैं। पर तब अचानक उन्हें वे ही माता-पिता असह्य लगने लगते हैं और वे अपने माता-पिता के लिए असह्य बन जाते हैं। पहले का जीवन जितना अधिक खुशनुमा रहा हो, इस नई स्थिति में उतनी ही अधिक तकलीफ माता-पिता और शायद बच्चों को भी होती है। “हमारी कितनी अच्छी पटती थी।” “वह कितना खुश रहता था।” “पता नहीं उसे क्या हो गया है।” “हमसे ज़रूर कोई भूल हुई है। पर हमें समझ नहीं आता हमने गलती कहाँ की है।” कई बार मैंने किशोरों या बीस वर्ष के आसपास के युवाओं को भी यह कहते सुना है, “मैं अपने माता-पिता को प्यार करता हूँ, हमारी हमेशा अच्छी बनी है, पर अब वे चाहते हैं कि मैं अमुक-अमुक करूँ। पर मैं यह करना ही नहीं चाहता। मैं दूसरा ही कुछ करना चाहता हूँ, जो उन्हें नापसन्द है। मैं अपराधबोध से घिर गया हूँ, बड़ा भ्रमित हूँ। क्या करूँ, समझ ही नहीं आता। मैं उन्हें ठेस नहीं पहुँचाना चाहता। पर अपनी ज़िन्दगी अपनी तरह से जीना भी चाहता हूँ।” लगता है कि उन्हीं लोगों को अपने बचपन का अन्त सबसे दुखदाई लगता है जिनका बचपन बेहद सुखद था।

बचपन की अवधि लम्बे समय तक खिंचती जाती है और उससे निकलकर एक अलग दुनिया में जाने, माता-पिता से अपने रिश्ते बदलने का कोई सूझबूझ वाला और क्रमिक रास्ता बिरले ही मिलता है। जब बच्चे माता-पिता से बाँधने वाली डोरियाँ खोल नहीं पाते तो उनके पास उन्हें तोड़ने के अलावा कोई उपाय नहीं रह जाता। जितने मज़बूत ये जोड़ने वाले बन्धन होंगे, उन्हें तोड़ने में उतनी ही ताकत लगेगी। और ऐसे में बड़ी भयावह, कभी न भुलाई जाने वाली दुर्भावनाएँ पैदा होंगी, आघात पहुँचेगा, दर्द होगा। यह कुछ ऐसा होगा, मानो घोंसले से निकलने का कोई तरीका ही न सूझे तो घोंसले को ही उजाड़ डालो।

बॉस्टन के भूमिगत रेल स्टेशन में एक इबारत लिखी है : **एक खुशहाल घर से कोई कभी नहीं भागता।** पर शायद सबसे प्रसन्न घरों में ही बच्चों को वह अतिरिक्त आत्मविश्वास, जिज्ञासा और ऊर्जा मिलती है, जो उन्हें एक बड़ी दुनिया में अपनी ताकत, अपनी क्षमताओं को जाँचने को उकसाए। और अगर उन्हें ऐसा न करने दिया जाए, तब दुख प्रारम्भ होता है।

कुछ समय पहले अमरीका के एक मध्य पश्चिमी शहर के निम्न मध्यमवर्गीय उपनगर में स्थित स्कूल की कुछ बैठकों में मुझसे बोलने का आग्रह किया गया। सभी लोग या तो बड़े उद्योगों में अच्छी मज़दूरी पाते थे या निचले स्तर की सफेदपोश नौकरियाँ करते थे। अधिकांश वयस्क विदेशों से आकर बसे लोगों के बच्चे या पोते-पोती थे। सभी चाहते थे कि उनके बच्चे कॉलेजों में पढ़ें और

मध्यमवर्ग में अपना स्थान पक्का कर लें। परम्परागत रूप से इलाके की राजनीति भी काफी दक्षिणपन्थी थी।

तय यह रहा कि मैं वहाँ के एक जूनियर हाई-स्कूल में दोपहर को एक कक्षा-काल बिताऊँ और नवीं कक्षा के दोनों सेक्शन एक साथ लूँ। इस दौरान उस विषय पर चर्चाएँ करूँ जो विद्यार्थियों को और मुझे पसन्द आए। सहमति इस बात पर भी हुई थी कि चर्चा के दौरान समूह में मैं एकमात्र वयस्क होऊँगा। पर जो अधिकारी मुझे स्कूल भवन दिखा रहे थे, वे भी न जाने किस कारण मेरे पीछे-पीछे कक्षा में घुस आए। सत्ता के इन प्रतीकों के सामने किसी प्रकार की खुली और स्पष्ट चर्चा की सम्भावनाएँ खत्म हो गईं। जो कुछ कहा गया वह कुछ गिने-चुने छात्रों ने ही कहा। ज़ाहिर था कि ये बोलने वाले बच्चे या तो स्वभाव से निडर थे या फिर इतने सफल थे कि उन्हें बाद में किसी तरह की परेशानी में उलझने का डर नहीं था। यह भी सम्भव है कि वे पहले ही इतनी परेशानी में रहे हों कि परेशानी बढ़ने की उन्हें परवाह नहीं थी।

मैं स्कूलों और स्कूलों में सुधार पर बोल रहा था। घण्टे के अन्तिम मिनटों में मुझे सूझा कि मैं इन किशोरों से यह भी पूछ लूँ कि वे बाल्यावस्था की संस्था के बारे में क्या सोचते हैं। एक बार फिर रेखांकित कर दूँ कि ये बच्चे क्रान्तिकारी तो छोड़ ही दें, उदारवादी विचारधारा वाले भी नहीं थे। स्थानीय हाईस्कूल में पहने जाने वाले कपड़ों में कुछ परिवर्तन हुआ था। फिर भी इस जूनियर हाई स्कूल में लड़कों को कोट व टाई पहननी पड़ती थी और लड़कियों को ड्रेस या स्कर्ट। स्कूल काफी सख्ती के साथ चलाया जाता था। और फिर स्कूल के उच्चतम अधिकारी भी बच्चों के सामने मौजूद थे।

मैंने तीन सवाल पूछे जिनके उत्तर हाथ उठाकर देने थे। पहला प्रश्न था, “अगर आपको मताधिकार मिले तो आप में से कितने राजनैतिक चुनावों में मत डालने जाएँगे?” करीब दो-तिहाई बच्चों ने हाथ उठाया। कुछ ने तो काफी धीरे-धीरे सोचते हुए ऐसा किया। दूसरा प्रश्न था, “अगर आपको कानूनन पैसों के लिए काम करने की अनुमति हो तो आप में से कितने, पूरे समय नहीं तो कुछ समय के लिए काम करेंगे?” फिर करीब दो-तिहाई बच्चों ने हाथ उठाया। सामने की सीट पर बैठे एक लड़के ने, जो चर्चा के दौरान पूरे समय चुप रहा था, कहा, “अरे भई, हमें तो पूरी ज़िन्दगी काम करते ही बितानी है, तो काम शुरू करने की इतनी जल्दी भी क्या है?” लोग हँसे, पर उठे हुए हाथ ऊपर ही रहे। अन्ततः बिना प्रतिक्रिया की उम्मीद के मैंने तीसरा प्रश्न पूछा, “अगर आपको कानूनन घर से अलग रहने की अनुमति हो तो आप में से कितने, कम से कम कुछ समय के लिए घर से दूर रहेंगे?” हर हाथ इस झटके से, इतनी तेज़ी से उठा कि मुझे लगा कि कहीं कन्धों के जोड़ बाहर ही न निकल आएँ।

चेहरों पर चमक आ गई। ज़ाहिर है मैंने जादुई खटका दबा दिया था। मैंने सोचा, काश मैंने यह सवाल पहले पूछा होता तो मुझे कितना कुछ सीखने को मिलता। पर समय खत्म हो रहा था। मैंने छात्रों को धन्यवाद दिया। उन्हें शुभकामनाएँ दीं और वे कमरे से निकल गए। मेरे मेज़बानों और मैंने स्कूल का दौरा जारी रखा। अन्तिम प्रतिक्रिया का उल्लेख नहीं हुआ और मैंने भी मसले को नहीं उठाया।

कुछ लोग कहेंगे कि सभी बच्चे और किशोर घर से इसलिए दूर रहना चाहते होंगे ताकि ना-नुकुर करने वाले माता-पिता से दूर रह वे वर्जित वयस्क सुखों - धूम्रपान, शराब और यौन - का आनन्द उठा सकें। सम्भव है कि यह बात भी वे बच्चे कहना चाहते हों, पर यह आंशिक सच्चाई ही होती। मुझे लगता है कि वे शायद यह भी कहना चाहते थे कि वे कुछ समय उन लोगों के साथ भी बिताना चाहते हैं जो उन्हें लोगों के रूप में देखें, सिर्फ बच्चों के रूप में नहीं।



### 3. इतिहास में बाल्यावस्था

बाल्यावस्था की संस्था की रक्षा करने तथा उसके औचित्य को स्थापित करने के लिए हम अक्सर पारिवारिक जीवन की ऐसी आदर्श छवियाँ बनाते हैं जिनका वास्तविकता से खास लेना-देना नहीं होता। एक दिन मेरी एक पुरानी मित्र ने अपने दोनों बच्चों के साथ हुई बातचीत के बारे में बताया। इन बच्चों को मैंने बढ़ते देखा है। इस परिवार के साथ मैंने काफी समय बिताया है। यहाँ रात के खाने का समय हमेशा मज़े और बातचीत का मौका होता है। कुछ समय पहले वह अपने दोनों बच्चों के साथ एक टी.वी. कार्यक्रम “एक अमरीकी परिवार” देख रही थी। बाद में बच्चों से चर्चा करते हुए उसने कहा कि उसे वह कार्यक्रम बड़ा बनावटी लगा। क्योंकि कौन कल्पना कर सकता है कि कोई परिवार खाना खाने बैठे और पूरे समय कोई बात ही न हो? इस पर उसके बच्चों ने कहा कि यह गलत है। बड़े वाले का कहना था, “मुझे कितनी बार बताना पड़ेगा कि जब मैं अपने दोस्तों के घर खाने जाता हूँ तो वहाँ कोई कुछ भी नहीं बोलता। अगर कुछ कहा जाता है तो सिर्फ यह ‘भई ज़रा यह दे देना’, या ‘अपना नैपकिन इस्तेमाल करो’। *हमारा ही* अकेला परिवार है जो मेज़ पर हमेशा बतियाता है।” छोटे ने बताया कि जब वह अपने दोस्तों के घर जाता है तो कोई मेज़ पर बैठता ही नहीं है। सब रसोई में इधर-उधर खड़े हो जाते हैं और जो कुछ खाने के लिए रखा गया हो, वह झपट लेते हैं।

इस बातचीत ने एक पुरानी स्मृति उभार दी। 1956 की गर्मियों में “अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के एक प्रयोग” के तहत मैं 10 अमरीकी बच्चों को फ्रांस की यात्रा के लिए ले गया था। एक माह तक हम सब दक्षिण-पूर्वी फ्रांस के एक छोटे कस्बे - गैप - में अलग-अलग परिवारों के साथ रहे। गर्मियाँ बीतने के बाद जहाज़ से घर लौटते समय हमने अपने अनुभवों पर बातचीत की। मैंने अपने साथियों से जानना चाहा कि उन्हें देखी या की गई बातों में से सबसे ज़्यादा किसने प्रभावित किया? वे किसे अपनी ज़िन्दगी का हिस्सा बनाना चाहते थे? लगभग सभी ने कहा, “हमें रोज़ाना होने वाले पारिवारिक रात्रि भोजन का रिवाज़ बड़ा अच्छा लगा। पूरा परिवार एक साथ होता है, बच्चे, बड़े और दरमियाना उम्र वाले सब। खूब समय लगाते हैं। बड़े आराम से गपशप करते हैं। हरेक को अपनी बात कहने का मौका मिलता है। कोई भी छूटा नहीं रह जाता।” वे जिस

विरह, लालसा और पछतावे के साथ यह कह रहे थे वह आश्चर्यजनक था। सभी अमरीकी बच्चों ने बताया कि उनके परिवारों में, और जितने परिवारों को वे जानते हैं उनमें भी, ऐसा पारिवारिक भोजन आमतौर से होता ही नहीं है। केवल क्रिसमस, थैंक्सगिविंग या विशेष पर्वों पर ही वे साथ-साथ खाते हैं। अमूमन सभी सदस्य अपने-अपने कामों में व्यस्त रहते हैं। अलग-अलग समय पर लौटकर फ्रिज में रखा या चूल्हे पर रखा खाना खाते हैं। ज़रूरत पड़ने पर एक-दूसरे के लिए एकाध सन्देश छोड़ देते हैं कि वे कहाँ जा रहे हैं। और फिर अपनी राह चल देते हैं।

जब किसी प्रथा, किसी कर्मकाण्ड, किसी परम्परा या किसी संस्था को बचाए रखने की ज़रूरत सबसे ज़्यादा महसूस होती है, शायद तभी पता चलता है कि वह बचाए रखने के परे चली गई है और लगभग चुक गई है। शायद आधुनिक परिवार उस वक्त लगभग मर चुका था जब लोग सार्वजनिक रूप से उसके पक्ष या विपक्ष में बोलने लगे थे। जो वस्तु हमारे जीवन में मूल्यवान है, उसे सुरक्षित रखने के लिए हमें ज़ोरदार सफाई नहीं देनी पड़ती। वह उतनी ही स्वाभाविक और अवश्यम्भावी होती है जितना साँस लेना। पर जिस वस्तु को हम कीमती मानना चाहते तो हैं पर दिल ही दिल में इतना मूल्य नहीं देते, उसी के पक्ष में हम गर्मजोशी से बोलते हैं। हम तब ही ऐसी संस्थाओं के स्वास्थ्य की ओर तवज्जो देते हैं जब वे गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाती हैं। वैसे ही जैसे हम अपने शरीर के साथ करते हैं।

हाल ही में बाल्यावस्था के उद्भव और इतिहास का अध्ययन शुरू करने वालों ने पाया है कि बाल्यावस्था, मातृत्व, घर व परिवार जैसी संस्थाएँ आज जिस रूप में मिलती हैं, वह कुछ महत्वपूर्ण अर्थों में न केवल स्थानीय हैं, बल्कि हाल में ईजाद हुई संस्थाएँ हैं। वे मानवीय परिस्थिति का सार्वभौमिक सत्य नहीं हैं।

शूलामिथ फायरस्टोन ने अपनी पुस्तक *द डाएलेक्टिक्स ऑफ़ सेक्स* में संकेत किया है :

चौदहवीं शताब्दी के बाद बुर्जुआ वर्ग तथा प्रयोगाश्रित विज्ञान के विकास के बाद स्थिति क्रमशः बदली। आधुनिक परिवार के एक गौण हिस्से के रूप में बाल्यावस्था की अवधारणा विकसित हुई। ...बच्चे सत्रहवीं शताब्दी में फैशन में आए। ...सन् 1600 के पहले बच्चों के खिलौनों का अस्तित्व तक नहीं था और तब भी उनका उपयोग तीन या चार वर्ष के बच्चों तक ही सीमित था। ...परन्तु सत्रहवीं शताब्दी के अन्त तक बच्चों के लिए खास खिलौने और खेल भी आम हो गए। ...*बाल्यावस्था की अवधारणा बालिकाओं पर*

लागू नहीं होती थी। वे झबलों से सीधे वयस्क महिलाओं के कपड़े पहनने लगती थीं। बालिका को स्कूल नहीं भेजा जाता था, हालाँकि स्कूल बाल्यावस्था की संस्था के ढाँचे का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। नौ-दस साल की उम्र में ही वह एक “नन्ही देवीजी” का सा व्यवहार करने लगती थी। उसकी गतिविधियाँ किसी वयस्क महिला से भिन्न नहीं होती थीं। वयःसंधि प्राप्त करते ही, और कभी-कभी तो दस-बारह साल की उम्र में ही, उसका विवाह उससे काफी बड़ी उम्र के पुरुष से कर दिया जाता था।

एरीस ने हैरॉर्ड की पुस्तक *लूई तेरहवें की बाल्यावस्था की कथा* को उद्धृत करते हुए डॉफिन की बाल्यावस्था का वर्णन दिया है। यह वर्णन मूलतः डॉफिन के चिकित्सक ने लिखा था। वर्णन कहता है कि सत्रह माह की उम्र में डॉफिन गाते और वॉयलिन बजाते थे। वे आगे कहते हैं कि इसी उम्र में डॉफिन मौल नामक एक खेल भी खेलते थे जो गोल्फ या क्रॉके के समान होता था। वे बतियाते थे, और सामरिक रणनीति के खेल खेलते थे। तीन-चार वर्ष की आयु में उन्होंने पढ़ना-लिखना सीखा। इसी उम्र में गुड़ियों से खेलने के बावजूद उन्होंने धनुर्विद्या सीखी, ताश और शतरंज खेलना भी सीखा। मैं जिन पाँच साला बच्चों को जानता हूँ वे खेल के नियमों की कठोरता का विरोध करते हैं। और हारने लगे तो उन्हें मनमर्जी से बदलना चाहते हैं। पर सम्भवतः डॉफिन खेलों का अधिक आदी रहा होगा। मैं एक बार एक छह वर्षीय लड़के के साथ चैकर्स खेल रहा था। उसने तिहरी कूद के जाल में मुझे फँसाने की पूरी तैयारी कर ली थी। मैं तो फँस ही जाता, अगर मैंने उसे पूरी तल्लीनता और उत्तेजना के साथ मुझे घूरते हुए न देखा होता। डॉफिन के विषय में यह भी बताया जाता है कि जबसे उसने चलना सीखा, वह वयस्कों से समानता के स्तर पर मिलता था और नृत्य, अभिनय आदि जैसी सभी गतिविधियों में भाग लेता था। हमें यह तो पता नहीं है कि वह यह सब करने में कितना माहिर था। भावी राजा के रूप में उसकी स्थिति भी उसके पक्ष में रही होगी। सम्भव है कि उसके आसपास के बड़े-बुजुर्ग उसकी अकुशलता को दूसरे निचले तबकों के बच्चों की तुलना में अधिक अनदेखा कर देते हों। पर इससे एक मुख्य बात नज़रअन्दाज़ हो जाती है। वह यह कि उस युग के वयस्कों को लगता था कि वे नन्हे राजकुमार से अपने समान व्यक्ति का सा व्यवहार करें।

बाल्यावस्था को हम जिस रूप में जानते हैं वह न केवल एक आधुनिक आविष्कार है, बल्कि वह परिवार भी आधुनिक ही है जिसे बचाने की हम इतनी चर्चा करते हैं। एलिज़ाबेथ जेनवे अपनी पुस्तक *मैन्स वर्ल्ड, वुमन्स प्लेस* में लिखती हैं:

एरीस सुझाते हैं (और ऐसा करने वाले वे अकेले भी नहीं हैं) कि “घर” की हमारी परिकल्पना, जो माता-पिता व बच्चों के एक अन्तरंग समूह पर आधारित है, वास्तव में ऐतिहासिक रूप से बहुत पुरानी नहीं है। न ही उसका भौगोलिक विस्तार सर्वव्यापी है। ...एक घर में रहने वाला परिवार क्रमशः “एकल परिवार” का रूप लेने लगा, जिसमें केवल माता-पिता व बच्चे हों। ये परिवार पुराने समय के उत्तरी यूरोप व अन्य क्षेत्रों में प्रचलित व्यापक सामुदायिक जीवन से कटकर अपनी एकान्तता में जीने लगे। इसी समय सेवकों की एक भिन्न व अधीनस्थ श्रेणी बनी। ये परिवार में रहने वाले सदस्यों की सुख-सुविधा के लिए काम करने लगे। जबकि ये ही लोग पहले विभिन्न उत्पादकों के पास प्रशिक्षुओं के रूप में काम करते थे और बाज़ार के लिए वस्तुओं का निर्माण करते थे। अब *मकान* (हाउस) बदलकर *घर* (होम) का रूप लेने लगा था। घर शेष दुनिया से कटे हुए पारिवारिक जीवन और आराम का गढ़ था। [पृष्ठ 14]

सन् 1700 के पूर्व घर, चूल्हा और बच्चे के मिथक के उदाहरण बिरले ही मिलते हैं। अर्थात् उस समय के घर आज की तरह के न थे, जिनके लिए कहा जाता है कि महिलाओं का स्थान एक घर ही है:

तो अगर पहले महिलाएँ घर में नहीं होती थीं, तो भला कहाँ थीं? अगर परिवार-केन्द्रित जीवन मध्यमवर्ग का आविष्कार है तो पहले ज़माने में लोग कैसे रहते थे? ...वे दो प्रकार के आवासों में से किसी एक में रहते थे। बड़ा मकान या झोपड़ी। ...बड़े मकानों में शिष्ट वर्ग रहता था, पर अकेले अपने परिवार के साथ नहीं, क्योंकि बड़ा मकान केवल रहने का स्थान नहीं था। वे या तो गढ़ थे या वित्तीय गतिविधियों के केन्द्र, या फिर दोनों थे। बड़े मकान के दरवाज़ों के अन्दर रहने वाला परिवार नौकर-चाकरों, प्रशिक्षुओं, हर स्तर के कर्मचारियों, कारिन्दों, प्रबन्धकों, क्लर्क, पादरी और असंख्य मेहमानों व निठल्लों से घिरा रहता था। लगभग बीस प्रतिशत आबादी ऐसे आवासों में निवास करती थी जहाँ मालिक व सेवक साथ रहते थे। उनके कमरे... ऐसे थे जहाँ कोई, कभी अकेला नहीं होता था।

शेष आबादी शहरों या गाँवों में छोटी-छोटी झोपड़ियों में रहती थी। सीधे साफ शब्दों में ये उस समय की कच्ची बस्तियाँ थीं। [पृष्ठ 15]



बच्चे वयस्कों के जीवन में अंशतः तो इसलिए होते थे क्योंकि उन्हें उससे बाहर रखने का कोई उपाय ही नहीं था। गरीबों के पास आज की तरह तब भी इतना कम स्थान था कि बच्चों को जीवन की सभी वास्तविकताओं को देखना-जानना पड़ता था। सम्पन्न से सम्पन्न परिवारों में भी उस एकान्तता का पूर्ण अभाव था जिसे हम आज इतना ज़रूरी मानते हैं। बड़े घरों में, महलनुमा किलों में भी अलग-थलग निजी कमरे नहीं थे जो एक साझे हॉल में खुलते हों। कमरे एक कतार में और एक दूसरे से जुड़े हुए होते थे। अर्थात् अगर एक कमरे से दूर किसी दूसरे कमरे में जाना हो तो बीच में आने वाले शेष सभी कमरों से गुज़रना पड़ता था। हरेक व्यक्ति वह सब देखता था जो दूसरे कर रहे हों, न देखने का कोई उपाय ही नहीं था। अतः जीवन के स्वाभाविक कार्यों के बारे में वे वर्जनाएँ भी नहीं थीं, जो बाद में आईं।

वास्तव में मातृत्व भी कोई सार्वकालिक और सार्वभौमिक सम्बन्ध नहीं है और न ही इसकी ज़रूरत है, जैसा आज हम उसे मान बैठे हैं। सुश्री जेनवे लिखती हैं :

हम याद रखें कि अतीत में माताएँ कठोर परिश्रम करती थीं और अपना पूरा समय परिवारों के साथ ही नहीं बिताती थीं। शताब्दी दर शताब्दी करोड़ों बच्चे ऐसी महिलाओं की देखरेख में पले-बढ़े हैं जो उनकी नैसर्गिक माताएँ नहीं थीं। मेरा आशय केवल कबीलों के बच्चों से नहीं बल्कि उन सभी बच्चों से है जिन्हें धाय माँ, नानियों, दादियों या बड़ी बहनों के पास और समझदार होने पर स्कूलों (या स्कूलों के पहले बड़े घरों) में भेज दिया जाता था। समझदारी की उम्र दुनियाभर में लगभग समान रूप से सात वर्ष मानी जाती रही थी। हमारे अपने सांस्कृतिक अतीत में (अर्थात् मध्ययुगीन यूरोप में) एकमात्र औपचारिक स्कूल वे थे जो लड़कों को गिरजे के लिए तैयार करते थे। शेष सभी लोग - सामन्त, सामान्य जन और दास - काम करते हुए सीखते थे। सीखने की यह प्रक्रिया वयस्क दुनिया में एक प्रकार के सामान्य प्रशिक्षु काल के दौरान होती थी। वे सीखने का काम ज़्यादातर घर से दूर रहकर करते थे। औपचारिक शिक्षा को जब जन-साधारण के लिए उपयोगी माना जाने लगा, तब भी केवल उच्च वर्ग के लड़कों को स्कूल भेजा जाता था। लड़कियाँ और निम्न वर्ग के लड़के पुरानी रीति से ही सीखते थे। केवल सम्पन्न और महान परिवारों की बेटियाँ ही निजी शिक्षिकाओं (गवर्नेस) के पास, घरों में रखी जाती थीं। बाकी बच्चे कुछ समय अपने माता-पिता के साथ काम करते हुए सीखते थे। पर अधिकतर

अपने मित्रों, रिश्तेदारों या जाने-माने हुनरमन्दों के पास रहकर शिष्ट आचरण के साथ किसी कौशल को सीखते थे। ज़रूरी नहीं था कि माता-पिता अपने बच्चों के साथ अपरिचितों से अधिक कोमल व्यवहार करते हों।

आप कह सकते हैं कि ठीक है, ऐसा होता था। पर क्या यह व्यवस्था बच्चों के लिए अच्छी थी? इसका जवाब इसके अलावा और क्या हो सकता है कि मानवजाति का अस्तित्व इस व्यवस्था के तहत भी बना रहा। जैसे वह आज अजीबो-गरीब लगने वाली दूसरी जीवन शैलियों में भी बचा हुआ है। ज़ाहिर है कि ये प्रथाएँ भी सामाजिक रूप से उपयोगी और मनोवैज्ञानिक रूप से सन्तोषजनक रही होंगी। तभी वे टिकी भी रहीं। [पृष्ठ 187]

पॉल मरी केण्डल ने रिचर्ड तृतीय पर रचित जीवनी में एक जगह लिखा है कि इंग्लैण्ड प्रवास पर आए एक इतालवी यात्री को यह जानकर बड़ा सदमा पहुँचा कि यहाँ सम्पन्न और सामन्ती परिवारों के लोग भी अपने बच्चों को आठ-नौ साल की उम्र में दूसरों के घरों में भेज देते हैं। वयस्क बनने तक वे यहीं रहते थे। इस दौरान वे नौकरों की तरह काम करते, भोजन के समय परोसगारी करते और विभिन्न कलाओं व शिल्पों को सीखते थे। ये बच्चे कभी अपने घर वापस नहीं लौटते थे, कम से कम रहने के लिए तो नहीं ही। बेटे अपना जीवन खुद बनाते थे और बेटियों के विवाह उन परिवारों द्वारा तय कर दिए जाते थे जिनके साथ वे रहने के लिए भेजी गई होती थीं।

मैं यह दावा नहीं करता कि आधुनिक बाल्यावस्था के आविष्कार के पहले बच्चे व किशोर अधिक सुखी थे। या कि आधुनिक बाल्यावस्था ने कुछ बच्चों के जीवन को नहीं सुधारा है। या यह कि बाल्यावस्था आज हर जगह, हर बच्चे के लिए बुरी है। मैं सिर्फ इतना भर कह रहा हूँ कि कई बच्चों के लिए यह कारगर नहीं सिद्ध होती। और ऐसे बच्चों को दूसरा तरीका अपनाने की अनुमति दी जानी चाहिए।

न ही मेरा दावा यह है कि आधुनिक बाल्यावस्था इसलिए बुरी है क्योंकि यह नई है या यह कि अतीत में प्रचलित प्रथाओं से यह हर अर्थ में बिल्कुल भिन्न है। जितनी दूर तक हमें अपने इतिहास का ज्ञान है बच्चे हमेशा से वयस्कों की मिल्कियत रहे हैं और उनके ही द्वारा नियंत्रित किए जाते रहे हैं। आधुनिक बाल्यावस्था में जो नई बात है, और जो उसकी बुराई भी है, वह यह है कि बच्चे वयस्कों की दुनिया से इस कदर कट गए हैं। बच्चों पर हमेशा ही माता-पिता ने अपनी धौंस चलाई है। *केवल* माता-पिता की इस धौंसपट्टी में अब नवीनता

यह है कि बच्चों का अपने माता-पिता से इतर किसी भी अन्य वयस्क से कोई रिश्ता नहीं रहा है।

बच्चों को वयस्क दुनिया का ही एक हिस्सा मानना उनसे निपटने का पुराना तरीका था। यह कोई सुनियोजित और सुविचारित तरीका नहीं था। यह जीवन की स्वाभाविक परिस्थितियों से उभरा था। जिस समाज में किए जाने वाले काम उपलब्ध लोगों से कहीं अधिक हों, वहाँ स्वाभाविक रूप से बच्चों से यह उम्मीद रखी जाएगी कि जितना जल्दी सम्भव हो और जितना उनसे बन पड़े वे उतना काम शुरू कर दें। और जिस समय उनकी उम्र मदद कर पाने की न हो तब भी उनके इर्द-गिर्द ऐसे लोग हमेशा नहीं होंगे, जिन्हें उनकी देखभाल के अलावा कोई दूसरा काम ही न हो। हम हमेशा चिन्ताग्रस्त और दुखी होकर पूछते हैं, “बच्चों के लिए सबसे उत्तम क्या है, उनके लिए सही क्या है, हमें बच्चों के लिए भला क्या करना चाहिए?” यह प्रश्न आधुनिक बाल्यावस्था का नतीजा भी है और उसका कारण भी। बाल्यावस्था की संस्था का आविष्कार नहीं होने तक यह प्रश्न किसी को सूझा तक नहीं था। और सूझा भी हो तो यह नहीं सूझा था कि जो बच्चों के लिए सबसे अच्छा है वह दूसरों के लिए अच्छे से कुछ अलग है।

जे.एच. वैन डेन बर्ग अपनी पुस्तक *द चेंजिंग नेचर ऑफ़ मैन* में कई बार और कई तरह से दूरी की उपमा का प्रयोग करते हैं। वयस्क स्वयं को बच्चे से दूर करता है। वह बच्चे को दूर धकेलता है। बच्चा और वयस्क एक लगातार बढ़ती खाई के दो विपरीत छोरों पर खड़े हैं। इस खाई को बनाने में कई चीज़ों का योगदान है। एक हद तक यह खाई वयस्कों ने जानबूझकर बनाई है। सम्भवतः ऐसा कुछ हद तक रूसों के प्रभाव के कारण किया गया हो। रूसों ने घोषणा की थी कि बच्चा एक भिन्न प्रकार का जीव है और उससे भिन्न प्रकार का बर्ताव किया जाना चाहिए। इसलिए वयस्कों ने बच्चे को अपनी दुनिया से दूर किया (या कहें अपनी दुनिया को बच्चों से दूर किया)। उन्होंने सोचा कि ऐसा करना बच्चे के लिए बेहतर होगा। पर इससे भी अधिक बड़े पैमाने पर यह हुआ कि दुनिया ने ही स्वयं को बच्चों से (और साथ में वयस्कों से भी) दूर कर लिया। दुनिया क्रमशः अधिक अमूर्त और अपारदर्शी बनने लगी। यह देखना और जानना कठिन हो चला कि दरअसल हो क्या रहा है या कौन, क्या और किसलिए कर रहा है।

बच्चों से दुनिया को दूर करने वाली तमाम चीज़ों में एक थी काम की प्रकृति में बदलाव। मनुष्य जब से अस्तित्व में आया उसे तभी से कठोर, जी तोड़, थकाऊ और खतरनाक काम करने पड़ते रहे थे। अधिकतर कामों के लिए उसे शारीरिक शक्ति, कौशल तथा निर्णय शक्ति की आवश्यकता पड़ती रही थी।

वह अपने अधिकतर कामों पर और उन्हें अच्छी तरह कर पाने पर गर्व करता था। लोगों को कोई काम निरर्थक नहीं लगता था क्योंकि वे अपने काम से कटे नहीं थे, उससे अलगाव नहीं महसूस करते थे। उन्हें पता था कि वे क्या और क्यों कर रहे हैं। साथ ही वे अधिकांश काम अपने घर में या उसके आसपास ही करते थे। क्रमशः विशेषज्ञता, औद्योगीकरण और केन्द्रीकरण के चलते काम से मनुष्य की दूरी बनने लगी। वह निरर्थक और घृणास्पद हो चला। ज़्यादा से ज़्यादा लोग ऐसी जगह काम करने लगे जहाँ बच्चे उन्हें काम करते हुए देख नहीं सकते थे। और देख पाते थे तो उन कामों को समझ नहीं सकते थे। स्थिति यह भी बनी कि अधिकांश वयस्क चाहने लगे कि उनके बच्चे वह काम न करें जो वे स्वयं कर रहे हैं। सच तो यह था कि वे स्वयं भी उसे नहीं करना चाहते थे।

सुश्री जेनवे लिखती हैं :

...कम्प्यूटर प्रोग्रामर अपना काम कैसे करता है यह सामान्य लोगों के लिए जादुई ज्ञान से कम नहीं है। यह मसला वैसा नहीं है जैसा पूर्व काल के सुरक्षित “कौशल रहस्यों” का था। यह तो जीवन के एक हिस्से की दूसरे हिस्से से दूरी का मसला है, जो आज मौजूद है। [पृष्ठ 78]

यहाँ एक बार फिर दूरी की उपमा का उल्लेख है। यह उपमा काम में इतनी बार इसलिए ली जाती है क्योंकि आज जीवन ही खण्डित है। उसके विभिन्न हिस्से एक दूसरे से कट चुके हैं। जेनवे का कथन है कि व्यक्तिगत भूमिकाएँ लोगों के लिए अत्यावश्यक हैं। इसलिए क्योंकि ये ही वे भूमिकाएँ हैं जिन्हें लोग समझ पाते हैं, जिनके बारे में वे सुनिश्चित हैं। वे कह सकते हैं, “हम अधिकतर समय क्या करते हैं, नहीं जानते। पर जब हम माता या पिता की भूमिका निभाते हैं, तो हमें बखूबी पता होता है कि हम क्या रहे हैं।” जेनवे आगे कहती हैं कि वे महिलाएँ जिन्हें लगता है कि अपने जीवन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है, ठीक उन्हें ही अपने बच्चों को नियंत्रित करने की आवश्यकता सबसे अधिक महसूस होती है।

परन्तु आज बढ़ते बच्चों को अपने से बड़ों के साथ अधिक से अधिक सम्पर्क की आवश्यकता है। इसलिए कि समाज इतना पेचीदा हो गया है, वयस्क इतने भिन्न-भिन्न प्रकार से आचरण करते हैं, लोग इतनी सारी भूमिकाएँ निभाते प्रतीत होते हैं और जीवन जीने व काम करने की शैलियाँ इतनी अलग-अलग हैं। एक सरल और स्थायित्व लिए समाज में यह सम्भावना कहीं अधिक रहती है कि कोई भी एक व्यक्ति शेष लोगों का प्रतीक बन सके। परन्तु एक अधिक

व्यापक और पेचीदा समाज में यह सम्भव नहीं है। एक सरल समाज में शायद यह समझना आसान है कि आपके पिता घर या कार्यस्थल पर क्या करते हैं। और तब यह भी समझा जा सकता है कि शेष बच्चों के पिता क्या-क्या करते हैं। लेकिन हमारे जैसे पेचीदा और विविधता लिए समाज पर यह बात लागू नहीं होती।

यह दुनिया और दुनिया में जीवन तब ही अर्थपूर्ण बनते हैं, जब अधिकांश लोग समझते हों कि मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे होती है। पर जब लोगों को यह समझ ही न आता हो तो अर्थ ही लुप्त हो जाता है। मैक्सिको में नए भवनों का निर्माण उसी पुरानी शैली के अनुरूप किया जाता है। खम्भा, शहतीर और कॉन्क्रीट से भवन को बनते देख कोई भी कुछ समय बाद निर्माण प्रक्रिया के सभी चरण सीख लेता है और जल्दी ही स्वयं भी निर्माण कार्य में भागीदारी कर सकता है, भवन निर्माण में मदद कर सकता है। वहाँ पलने-बढ़ने वाला कोई भी युवा यह समझता है कि मकान या भवन कैसे बनाए जा सकते हैं, कि उन्हें बनाना कितना आसान है और अपने लिए घर बनाना हो तो निर्माण का काम सीखा जा सकता है। परन्तु आधुनिक युग की गगनचुम्बी इमारतों को बनाना सीखना आसान नहीं। ऐसी इमारतें अब मैक्सिको के महानगरों समेत बड़े शहरों में नज़र आती हैं। यहाँ निर्माण कार्य में लगे लोगों में से भी कुछ ही लोग यह समझते हैं कि पूरी प्रक्रिया क्या है। सड़क के किनारे खड़े देखने वालों के लिए तो यह एक रहस्य ही होता है। उन्हें लगता है, और ठीक ही लगता है, कि भवन निर्माण की पूरी प्रक्रिया समझनी हो तो पूरी ज़िन्दगी ही खप जाएगी। यही बात सभी लोगों पर, उन सभी चीज़ों पर लागू होती है जिन्हें वे अपनी ज़िन्दगी में देखते हैं या जिनका वे उपयोग करते हैं।

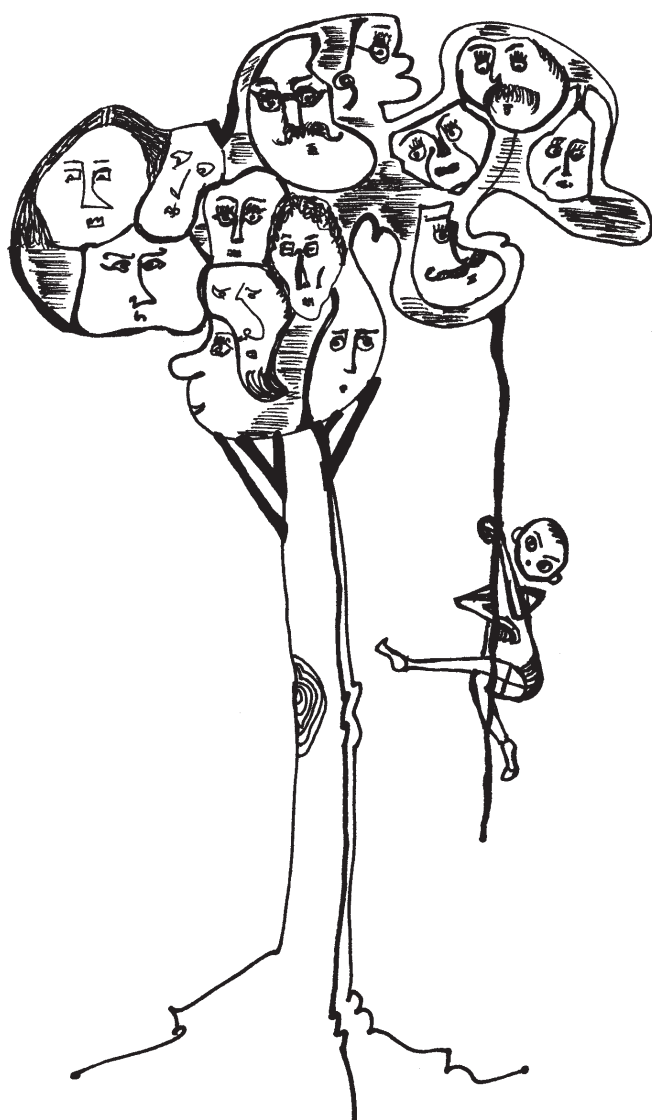
पर वैन डेन बर्ग का कहना है कि बच्चे और वयस्क तथा वयस्क और उसकी दुनिया के बीच की दूरी का एक अधिक मूलभूत कारण भी है। इसका सम्बन्ध चीज़ों को देखने के हमारे नज़रिए से है। मनुष्य की दुनिया का अधिकांश अर्थ उस समय नष्ट हो गया जब दार्शनिकों ने कार्य-कारण के सिद्धान्त का आविष्कार किया। इस आविष्कार ने वर्तमान की वास्तविकता का अर्थ अतीत में स्थापित कर दिया। ऐसे अतीत में जो मानवीय जीवन के बदलाव की गति के कारण क्रमशः अधिकाधिक अज्ञेय और अर्थहीन बनने लगा था। कार्य-कारण सिद्धान्त हमें बताता है कि जो कुछ होता है वह सब, उससे पहले जो हुआ हो उसका ही परिणाम है। अर्थात् जो हो रहा है वह पूर्व में हुई घटनाओं के कारण होता है। उनसे ही निर्धारित होता है। बच्चा जानना चाहता है कि आग क्यों जली? क्योंकि किसी ने माचिस लगाई। माचिस क्यों जली? क्योंकि किसी ने तीली को माचिस के डिब्बे पर रगड़ा। रगड़ने से तीली क्यों जली? क्योंकि

उस पर एक प्रकार का रसायन था और डिबिया पर दूसरी तरह का। तीली के सिरे पर रसायन क्यों था? क्योंकि किसी ने तीली के सिरे को रसायन के घोल में डुबोया था...। पीछे, बीते समय में, और पीछे। वैन डेन बर्ग एक मार्मिक घटना का उल्लेख करते हैं जिसमें उनके आठ वर्षीय पुत्र ने उनसे पूछा कि पेड़ की पत्तियाँ लाल क्यों हो रही हैं। वह दूसरे बच्चों की तरह यह जानना चाहता था कि इसका उद्देश्य भला क्या है, क्या मकसद है। पर इसके बदले पिता उसे जीव विज्ञान और रसायनशास्त्र की निरर्थक भूल-भुलैया की ओर ले गए। यह जानते हुए भी कि वे बच्चे के सवाल, उसके सरोकार से भटक रहे हैं, वे खुद को रोक नहीं पाए। इसलिए क्योंकि वे अपने वैज्ञानिक प्रशिक्षण से लाचार थे। बच्चे को, जो वह देख रहा था उसका उद्देश्य, उसका अर्थ समझना था, पर उसे जवाब नहीं मिल पाया। क्योंकि अगर सभी कुछ अतीत में हुए किसी कर्म का नतीजा है तो *किसी चीज़ या बात का कोई अर्थ ही नहीं है।*

पहले लोग जीवन का अर्थ उसके उद्देश्य के सन्दर्भ में देखा करते थे। एक तात्कालिक अर्थ में उन्हें समझ आता था कि जो हो रहा है उसका उद्देश्य क्या है। बच्चे के इस प्रश्न का उत्तर कि “यह क्यों हो रहा है?” अतीत में नहीं छुपा होता था। कोई चीज़ इसलिए नहीं होती थी कि कल-परसों कुछ हुआ था। बल्कि जो हो रहा था वह इसलिए होता था ताकि आगे कुछ हो सके। पेड़ इसलिए काटा जा रहा है क्योंकि उससे तख्तियाँ बनेंगी, जिनसे मकान बनाया जाएगा, या उस लकड़ी से उनके लिए रात का खाना पकेगा। वह व्यक्ति चमड़ा इसलिए काट रहा है क्योंकि उससे जूता बनेगा, जिसे कोई पहनेगा ताकि उबड़-खाबड़ रास्ते पर उसे चोट न लगे। एक अधिक व्यापक अर्थ में भी दुनिया और जीवन का उद्देश्य था, हालाँकि यह ईश्वरीय उद्देश्य था। और इस उद्देश्य के बारे में जन साधारण खास नहीं जानता था। न ही जानने के लिए उसे खास प्रोत्साहित किया जाता था।

पर हमने यह सब नष्ट कर दिया है। अब हरेक वस्तु का कोई न कोई कारण ज़रूर है। पर अर्थ किसी चीज़ का नहीं। ब्रह्माण्ड अब एक मशीन है जिसे बहुत पहले, बड़े रहस्यात्मक तरीके से चालू कर दिया गया था। पर अब उसकी चाल धीरे-धीरे चुकती-खपती जा रही है। और हम सब भी छोटी-मोटी मशीनें हैं जो धीरे-धीरे चुकती जा रही हैं। इधर हमारे इर्द-गिर्द बसी दुनिया और तेज़ रफ्तार से बदलती जाती है। इसके कारण हमारा अतीत भी लुप्त हो जाता है। अपनी महत्ता खो बैठता है। मार्गरेट मीड ने हाल ही में कहा था कि आज की युवा पीढ़ी दुनिया के विषय में कई अर्थों में अपने बड़े-बुजुर्गों से कहीं अधिक जानती है। आज के बड़े-बूढ़ों ने जिन चीज़ों को सीखने में अपने जीवन का अधिकतर हिस्सा लगा दिया, वे सब न जाने कब की लोप हो चुकी हैं। कुछ अर्थों में ऐसी

दुनिया में बड़ा होना बड़ी डरावनी बात है, जहाँ आपके दादा-दादी या नाना-नानी को आपसे सवाल पूछने पड़ें ताकि जो हो रहा है उसे वे समझ सकें। हम अपनी दुनिया में स्थायित्व भाव और मानवीय व मानवोचित उद्देश्य का भाव कैसे वापस लाएँ? जब तक हम यह नहीं करते दुनिया की सार्थकता का भाव वापस नहीं लौटेगा, और हम सब, बच्चे व बुजुर्ग, स्वयं को हमेशा ही भ्रमित और खोया हुआ पाएँगे।





## 4. परिवार तथा उसके उद्देश्य

कुछ लोगों को यह भय है कि बच्चों को अधिक स्वतंत्रता का अधिकार देने से “परिवार की संस्था” कमज़ोर हो जाएगी या टूट ही जाएगी। परन्तु जिस परिवार की बात अधिकांश लोग आज करते हैं - अम्मा, पापा व बच्चे - वह तो एक आधुनिक आविष्कार है। जिस परिवार को इसी देश के लोग सौ साल पहले तक जानते थे उसे तो मोटरगाड़ियों तथा उनसे उपजे अधीर व जड़हीन समाज ने पूरी तरह नष्ट कर दिया है। और वह परिवार भी तीन सौ साल पुराने यूरोपीय परिवार से भिन्न था। उस समय तक घर व परिवार दोनों ही के निजी होने का विचार जन्मा ही नहीं था। बहरहाल आज हमारे पास तमाम प्रमाण उपलब्ध हैं जो सिद्ध करते हैं कि आधुनिक एकल परिवार न केवल कई लोगों की गम्भीरतम समस्याओं की जड़ है, बल्कि कई रूपों में टूट रहा है और नई शकलें अख्तराकार कर रहा है।

मैं यहाँ जो चीज़ प्रस्तावित कर रहा हूँ उससे परिवारों में जो कुछ स्वास्थ्यकर है, जो वास्तविक मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और हमारे जीवन को समृद्ध बनाता है, उसे न तो कोई खतरा पहुँच सकता है, न पहुँचेगा। जो संस्था सच में कारगर है वह हमले से सुरक्षित भी होगी, फिर चाहे यह हमला कितना भी ज़ोरदार क्यों न हो। वास्तविकता की अपनी ही ताकत होती है। जिन लोगों की धार्मिक आस्थाएँ सच में मज़बूत हों, वे ऐसे कथनों से कतई विचलित नहीं होते कि ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं है या वह मर चुका है। विवाह औरतों के शोषण का उपाय है या कुछ और है - यह सुनने पर सुखी वैवाहिक जीवन बिता रहे दम्पति और एक-दूसरे के साथ से ताकत व आनन्द पाते दम्पति मुस्कुरा भर देते हैं और अपना जीवन जीते जाते हैं। क्योंकि उनका अनुभव उन्हें कुछ और ही बताता है।

अपने सर्वश्रेष्ठ रूप में परिवार एक कठोर दुनिया में स्वीकृति और प्रेम का एक द्वीप भर है। ऐसा कई लोगों ने कहा भी है। पर अक्सर परिवार के अन्दर ही लोग अपने जीवन की उन तकलीफों और कुण्ठाओं को एक-दूसरे पर निकालते हैं जिन्हें वे किसी दूसरे पर निकाल नहीं सकते। अर्थात् परिवार एक बनी-बनाई मित्र मण्डली का स्रोत होने की बजाए, पीड़ितों और दुश्मनों का एक तैयारशुदा स्रोत बन जाता है। एक ऐसी जगह जहाँ एक-दूसरे से सबसे स्नेहमय नहीं, बल्कि कठोरतम शब्द बोले जाते हैं।

सम्भव है हमें इस बात से कुछ निराशा हो, पर हमें आश्चर्यचकित या आतंकित नहीं होना चाहिए। परिवार का आविष्कार बच्चों को खुश रखने के लिए, उन्हें बड़े होने के लिए एक सुरक्षित भावनात्मक व मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि उपलब्ध करवाने के लिए नहीं किया गया था। मानवजाति ने परिवार का आविष्कार बेहद छोटे व अस्थिर समाजों की एक मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था। वह ज़रूरत थी यह सुनिश्चित करना कि यथासम्भव ज़्यादा से ज़्यादा बच्चे पैदा हों, पैदा होने के बाद उनकी तब तक शारीरिक रूप से देखभाल की जाए, जब तक वे स्वयं ऐसा करने के लायक नहीं हो जाते। बाईबल का आदेश था, “फलो-फूलो, फैलो!” जो समाज ऐसा नहीं करता था, उसका सूखे, अकाल, महामारी या युद्ध में समाप्त हो जाना निश्चित था। ऐसे समाजों के शासक अपनी समस्याओं का समाधान एक ऐसे तरीके से करते थे जो आज हमारे समाज की नैतिक संहिता की नींव है। यद्यपि यह संहिता हमारे अस्तित्व की आवश्यकताओं की पूर्ति आज नहीं करती, बल्कि उनके विपरीत ही जाती है। उस युग के शासक नौजवानों की कामेच्छाओं का उपयोग बच्चे पैदा करने और उन्हें पालने-पोसने के काम में लेते थे। संक्षेप में इन नैतिक नियमों का सार यह था कि आप सम्भोग केवल बच्चा पैदा करने के लिए ही कर सकते हैं। आपको उस औरत की देखभाल करनी है जो आपके बच्चे की माँ बनेगी। और जब बच्चा पैदा हो जाए तो आपको उसकी भी देखभाल करनी होगी। आज ही की तरह अधिकांश नौजवानों पर उस वक्त भी यह एक ऐसा बोझ था जिसे अगर वे टाल सकते तो कभी न ढोते। पर बचाव के सारे रास्ते बन्द थे और नैतिक नियम यौनेच्छाओं की पूर्ति या सुख पाने का कोई दूसरा रास्ता नहीं छोड़ते थे। पर इस कड़वे सौदे में समाज कुछ चाशनी घोल देता था। वह औरत तथा बच्चों को उस नौजवान के हाथों में उसकी निजी सम्पत्ति के रूप में सौंप देता था। उन्हें उस व्यक्ति के लिए काम करना पड़ता था। उसकी हर बात माननी पड़ती थी, क्योंकि मानवीय ऊर्जा एक दुर्लभ संसाधन और कीमती पूँजी थी। जिस व्यक्ति का परिवार बड़ा होता, उसे सम्पन्न और भाग्यवान माना जाता। समाज का यह आविष्कार कारगर रहा और लोगों की संख्या बढ़ने लगी। और किस कदर बढ़ी उनकी संख्या! संक्षेप में परिवार वह संस्था थी जिसमें कुछ लोगों पर दूसरों का स्वामित्व था। औरतें पुरुषों की मिल्कियत थीं और बच्चे स्वयं लोगों की सम्पत्ति होना या सम्पत्ति का मालिक बनना सीख लेते थे।

परिवार अगर इसके अलावा कुछ बन सके, जैसा वे अक्सर बने भी हैं, तो केवल इस कारण कि जब लोग लम्बे समय तक साथ-साथ रहते हैं तो उन्हें इस स्थिति को हज़म करने लायक बनाने के लिए कुछ रास्ते निकालने ही पड़ते हैं।

दूसरा कारण यह भी है कि मनुष्य सामाजिक व स्नेही प्राणी है। वह उन लोगों को चाहने भी लगता है जो उसके काफी करीब आते हैं। परन्तु परिवारों का आविष्कार इसलिए नहीं किया गया था कि लोगों को प्रेम करने वाले व्यक्ति उपलब्ध करवाए जा सकें। जिस हद तक प्रेम आ पाया वह एक अतिरिक्त बात ही थी। परिवार मूलतः एक नन्हा-सा साम्राज्य होता था, और आज भी है। एक निरंकुश राजतंत्र। रोमन विधान में पिता का अपनी पत्नी व बच्चों के जीवन के साथ-साथ उनकी मृत्यु पर भी पूर्ण अधिकार था। ठीक उसी तरह जैसे गुलामों पर। कुछ अरब देशों में आज भी पिता के लगभग वैसे ही अधिकार होते हैं। पिछले ही कुछ महीनों में एक अरबी पिता ने अपनी पन्द्रह साल की बेटी को मार डाला। कारण था उसका लड़कों से दोस्ती रखना। ध्यान रहे, उस पर किसी प्रकार के यौन सम्बन्ध का आरोप नहीं था। सात महीने कारागार में बिताने के बाद पिता को रिहा कर दिया गया। उस देश के सुल्तान ने उसे पूरी माफी दे दी। यह निर्णय बेहद लोकप्रिय फैसला था। पिछले सप्ताहों में प्रमुख समाचार पत्रों व पत्रिकाओं में मैं माता-पिता द्वारा अपने ही बच्चों के अपहरण की वारदातें पढ़ता रहा हूँ। अपहृत बच्चे अपने जीवन का दूसरा दशक पार कर चुके थे। माता-पिता ने उन्हें कई सप्ताहों तक कैद रखा ताकि वे कुछ धार्मिक समुदायों के प्रभाव से मुक्त हो सकें। अब तक किसी ने यह नहीं सुझाया है कि इन मामलों में भी हमारे अपहरण सम्बन्धी कठोर कानून लागू किए जाएँ। लगता है कि अगर बच्चा आपका खुद का है तो उसका अपहरण करना अनुचित नहीं है, फिर चाहे उसकी उम्र कुछ भी क्यों न हो।

परिवार के इसी रूप की गर्मजोशी से पैरवी की जाती है। जो लोग गुस्से से परिवार को बचाने, उसके सदगुणों को फिर से स्थापित करने की बात करते हैं, उनमें से अधिकांश लोग परिवार को विकास और आज़ादी का माध्यम नहीं मानते। वे उसे आधिपत्य और गुलामी का माध्यम मानते हैं। उसे एक लघु तानाशाही (जिसका औचित्य कई बार प्रेम के नाम पर दिया जाता है) मानते हैं, जिसमें बच्चा निरंकुश व निर्विवाद सत्ता के तहत जीना, उसके सामने घुटने टेकना सीखता है। यह गुलामी का प्रशिक्षण है।

कुछ अधिक दयालु नज़रिए वालों का आग्रह रहता है कि परिवार ही वह स्थान है जहाँ बच्चों का स्वस्थ लालन-पालन होता है। एलिज़ाबैथ जेनेव इस बात को यूँ रखती हैं :

...यह सच है कि बच्चों को पालन-पोषण की ज़रूरत होती है। यह भी कि ऐसा पालन-पोषण अन्तरंग और परिचित परिवेश में हो। उन्हें प्रेम, स्थायित्व, सुसंगत तथा असन्दिग्ध देखभाल की ज़रूरत

होती है। उन्हें ऐसे लोगों के साथ स्थाई सम्बन्धों की भी आवश्यकता पड़ती है जो उनमें गहरी रुचि लेते हों, जो स्नेह के साथ, प्रफुल्ल मन से, धीरज से उनकी देखरेख करें।

यह विचार आधुनिक है कि बच्चे तब तक स्वस्थ रूप से पल नहीं पाएँगे जब तक उन पर नज़र रखने वाले वयस्क के पास बच्चे की देखभाल के अलावा कोई दूसरा काम न हो।

जेनवे ने अपनी पुस्तक के अन्य भागों में बारबार यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार की देखरेख को आधुनिक कट्टरवादी नज़रिया ज़रूरी मानता है वैसी देखरेख अधिकांश बच्चों को कभी मिलती ही नहीं है। वे लिखती हैं कि:

...ज्यादातर महिलाएँ काम इसलिए करती हैं क्योंकि उन्हें पैसों कि ज़रूरत होती है। वे अपने पेशे (कैरियर) को बनाने में नहीं जुटतीं। उन्हें नितान्त उबाऊ काम करने पड़ते हैं, और हमेशा से ही करने पड़े हैं।

इससे उस मिथक का एक रोचक सन्दर्भ सूझता है - कि महिलाओं का स्थान घर ही में है। इतिहास बताता है कि यह एक निहायत मध्यवर्गीय मिथक है।...यह मिथक उस समाज को प्रतिबिम्बित करता है जिसमें महिलाओं को श्रम-बाज़ार से काटकर घरों में, कमोबेश निष्क्रियता की स्थिति में, रखने का सामर्थ्य था। [पृष्ठ 180]

एक और आधुनिक विचार यह है कि वयस्क जीवन के तमाम आदर्श, यानी स्त्री या पुरुष होने का मतलब दरअसल क्या है जैसे विचार बच्चे परिवार में ही पाते हैं। जेनवे यहाँ टैलकॉट पार्सन्स नामक समाजशास्त्री को उद्धृत करती हैं, “बच्चे जिस दुनिया और संस्कृति में जीते हैं, उसके बारे में वे उस संस्कृति के एक हिस्से में बढ़ते हुए सीखते हैं। इस हिस्से को हम परिवार कहते हैं। ...बाद में बच्चा यह भी सीखता है कि उसके परिवार के सदस्य उन सामाजिक रिश्तों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो दुनिया के शेष भाग में भी मिलते हैं।” आज इस कथन में सच्चाई खोज पाना कठिन है। और फिर बच्चों को ऐसे आदर्शों की दरकार भी क्या थी? खासकर तब, जब वयस्कों के जीवन खुले में ही जिए जाते थे। और बच्चे खुद भी अपना जीवन वयस्कों के जीवन के बीचों-बीच जीते थे। वे अक्सर वयस्कों के साथ काम करते थे, खेलते थे, धर्मानुष्ठान, त्यौहार, मृत्यु, शोक आदि में शामिल होते थे। आज के बच्चे के सम्मुख वयस्क जीवन का किस प्रकार का आदर्श प्रस्तुत होता है? जब वह अपने पिता को देर शाम घर लौटकर सोफे पर धम्म से बैठते, शायद अखबार पढ़ते या फिर पूरी शाम और

सप्ताहान्त टी.वी. देखते पाता है या जब वह अपनी माँ को दिन भर घरेलू काम करते पाता है? क्या सभी स्त्री-पुरुष बस यही करते हैं? अधूरा और विकृत होने की वजह से आधुनिक एकल परिवार न केवल वयस्क और सामाजिक जीवन का एक घटिया आदर्श प्रस्तुत करता है बल्कि शेष दुनिया से इस प्रकार कटे होने के कारण ही नए आदर्श गढ़ने की आवश्यकता भी पैदा करता है।

बच्चों को लोगों से सम्पर्क बनाने के लिए एक अधिक बड़े नेटवर्क की ज़रूरत कई कारणों से पड़ती है। छोटा परिवार अक्सर छोटा होने के कारण इसमें मददगार सिद्ध नहीं हो पाता है या विनाशकारी बन जाता है। वहाँ सम्बन्ध बेहद तीव्र होते हैं। हमेशा इतना कुछ दाँव पर लगा होता है। बच्चों के साथ उनके आदर्श सम्बन्ध को खतरा पहुँचाने के अन्देश के कारण कई माता-पिता अपने बच्चों से ना नहीं कह पाते हैं। यद्यपि वे ज़रूरत से ज़्यादा बार ना कह जाते हैं। ना कहने के पहले उन्हें गुस्साना पड़ता है। फिर वे बच्चे से दुगना नाराज़ इसलिए होते हैं क्योंकि उसने उन्हें ना कहने पर “बाध्य” किया। परिवार इन उत्कट भावनाओं पर इस कदर निर्भर होता है, अपने आप में बन्द होता है, दूसरों से या समुदाय से इस कदर बेरुख होता है कि वह बेहद नाज़ुक बन जाता है। एक झगड़े से ही उसके टूटने का खतरा बन जाता है। मानवीय सम्बन्ध केवल मनुष्यों के सम्बन्ध के बारे में नहीं हैं। अगर परिवार में भावनाओं के अलावा कुछ नहीं है, अगर वह भावनाओं का अखाड़ा मात्र है, अगर उसका जीवन इस तथ्य पर ही निर्भर है कि सभी सदस्य खुश हैं, सभी सबसे प्यार करते हैं, अगर परिवार के सदस्य एक दूसरे के लिए इसके अलावा किसी दूसरे अर्थ में वास्तव में उपयोगी ही नहीं होते, तो इस खुशी की भावना को डिगाती ऐसी किसी भी घटना से उसे खतरा होगा। और बिलकुल स्वाभाविक मतभेद और आपसी लड़ाइयाँ ज़रूरत से ज़्यादा अहमियत ले लेंगी।

मैं कभी-कभार अपनी सात वर्षीय मित्र को ना कहता हूँ (और वह भी कभी-कभार मेरे साथ ऐसा करती है।) पर ना कहने से पहले मुझे सोचना नहीं पड़ता। ये सवाल मुझे नहीं सताते कि मेरे बारे में कल उसकी भावना क्या होगी। क्या मैं ज़रूरत से ज़्यादा बार ना कहता रहा हूँ? क्या इससे हमारी दोस्ती पर आँच आएगी? और क्योंकि मुझे इस सबकी चिन्ता नहीं सताती, उसे भी फिक्र करने की ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसे में ना केवल उस पल की चीज़ बन जाता है। उसका सम्बन्ध केवल उस कृत्य से होता है जो उस पल का था। इस हाँ या ना का एक व्यापक अर्थ में उसके व्यक्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं होता। अतः वह उस ना को उसी रूप में स्वीकारती है जो उसका वास्तविक अर्थ है, और जीवन आगे बढ़ जाता है। हम एक-दूसरे को निरन्तर बढ़ते-बदलते इंसानों के रूप में जानते रहते हैं जो एक दूसरे को जितना ज्ञान और

आनन्द दे सकते हैं उतना देते और पाते हैं। क्योंकि हम एक-दूसरे पर पूरी तरह निर्भर नहीं हैं, इसलिए हमारा रिश्ता इतना नाजुक भी नहीं है।

हमारे युग का एक प्रचलित मुहावरा है “सहोदर स्पर्धा” (सिबलिंग राइवैलरी)। वह बात जो केवल इस अर्थ में “सामान्य” है कि वह हर जगह नज़र आती है, उसे हम स्वस्थ और सही मान लेते हैं। ऐसी ही एक बात यह है कि परिवार में बच्चे एक दूसरे को नापसन्द करते हैं। यह उनके व्यवहार में झलकता है। अपने माता-पिता के स्वल्प वात्सल्य और ध्यान को अपनी ओर खींचने के लिए वे एक-दूसरे से कड़ी स्पर्धा करते हैं। यह स्पर्धा इतनी उग्र क्यों होती है? इसलिए, क्योंकि चाहे गए और आवश्यक ध्यान, सरोकार, सलाह, सहचर्य और सुरक्षा का इतना अभाव है। और अभाव भला क्यों है? इसलिए क्योंकि यह सब देने वाले सिर्फ माता-पिता ही हैं।

बच्चों को ढेरों वयस्क मित्रों की दरकार होती है। ऐसे मित्रों की जिनके साथ उनके रिश्ते सहज हों। ऐसे रिश्ते जिनसे ज़रूरत पड़ने पर या मन करने पर पास या दूर हुआ जा सके। सम्भव है कि उन्हें ऐसे रिश्ते अपने संयुक्त या विस्तृत परिवारों में, दादा-दादियों, नाना-नानियों, मौसा-मौसियों, चाचा-चाचियों, हर प्रकार के भाई-बहनों और समधियों के परिवारों में मिलते रहे हों। या फिर छोटे समुदायों, गाँवों, कस्बों या बड़े शहरों के मुहल्लों में मिलते हों। परन्तु ऐसे समुदाय जहाँ लोगों में इस बात का भाव होता है कि दूसरों के जीवन में उनका एक स्थान है व दूसरों के प्रति सरोकार है अब बिरले ही मिलते हैं। गाँवों और शहरों दोनों ही स्थानों से वे लुप्त हो गए हैं। मोटरगाड़ी और हवाई जहाज़ों ने विस्तृत परिवार बिखेर दिए हैं। उन्हें वापस लाने का कोई उपाय नहीं है जिससे बच्चे ऐसे ढेरों बड़े-बुजुर्गों के साथ जी सकें जिनकी उनमें रुचि हो, जो उनसे सरोकार रखते हों।

हमें ज़रूरत है विस्तृत परिवार को फिर से बनाने की। या कहें कि हमें छोटों को अपने विस्तृत परिवार बनाने की अनुमति देनी होगी। उन्हें प्रोत्साहित करना होगा और इसमें उनकी मदद करनी होगी। ज़रूरी नहीं है कि बच्चे के वयस्क मित्र उसके माता-पिता के भी दोस्त हों। माता-पिता अक्सर ऐसे दोस्त चाहते हैं जो उनके जैसे हों। परन्तु सम्भव है बच्चे को अधिक विविधता पसन्द आए ताकि वह किसी से कुछ तो किसी और से कुछ दूसरा ही पा सके। मेरी बहन के बड़े होने के दौरान उसकी निकटतम सहेली, जो उसके लिए सबसे महत्वपूर्ण थी, एक बुजुर्ग महिला थी। उसे हमारे माता-पिता नहीं जानते थे और जानते होते तो सम्भव है कि वे उसे नापसन्द भी करते। बीस से तीस वर्ष की आयु के युवा व्यक्ति अब खोए हुए विस्तृत परिवार या समुदाय की तलाश किसी न किसी प्रकार के संगठनों में करते हैं। अक्सर ये उनके लिए अच्छे सिद्ध

होते हैं, पर ज़रूरी नहीं कि वे बच्चों के लिए भी लाभदायक हों। शायद इसलिए क्योंकि ऐसे साझे समुदायों में रहने वाले लोग अक्सर एक जैसे होते हैं। कोई कारण नहीं कि जिन लोगों से हम या हमारे बच्चे निकटता से जुड़े हैं, उन्हें हमारे पास या साथ रहना ही हो।

रॉबर्ट फ्रॉस्ट ने अपनी कविता “डेथ ऑफ द हायर्ड मैन” में इसे बड़ी खूबसूरती से समेटा है। जिस मज़दूर को काम के लिए रखा गया था वह अब काम कर पाने में असमर्थ है। वह बूढ़ा हो चुका है और बीमार है। वह थका-सा, एक युवा किसान दम्पति की रसोई में बैठा है। पति उसके लिए या उसका क्या करे समझ नहीं पाता है। वह सोचता है कि मज़दूर पास में रहने वाले अपने रिश्तेदारों के यहाँ क्यों नहीं गया होगा। इस पर उसकी पत्नी के उत्तर को और खूबसूरती से कहा ही नहीं जा सकता है - घर वह जगह है जहाँ आप जब चाहें जा सकें।

बच्चों को ठीक ऐसे ही तमाम घरों की ज़रूरत पड़ती है। शायद हम सबों को भी उनकी ज़रूरत है। पर मुझे लगता है बच्चों की तुलना में कई वयस्कों को यह अहसास होता है कि उनके कई घर हैं। ज़रूरत पड़ने पर या कठिनाई में फँसने पर वे इस विश्वास के साथ वहाँ जा सकते हैं कि उनको मदद मिलेगी या कम से कम आश्रय तो मिलेगा ही। पर इस प्रकार के घर बनाने या खोजने का काम समाज लोगों के लिए नहीं कर सकता। प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन जीते हुए स्वयं अपने घर बनाने पड़ते हैं। यही करने की अनुमति में बच्चों को देना चाहता हूँ, इसमें उनकी मदद करना चाहता हूँ।





## 5. बड़ों की सत्ता का लोप

आजकल हम इस विषय पर बड़ी बातचीत करते हैं (शायद लोग हमेशा ही करते रहे हैं) कि पुरानी पीढ़ी की युवा पीढ़ी पर सत्ता कैसे और क्यों खो गई। यह सवाल पूछने वाले ज़्यादातर लोग यह भी कहते हैं कि बुजुर्ग कुछ ज़्यादा ही सहज और कोमल रहे हैं और उन्होंने युवाओं को अपनी मनमर्जी करने की कुछ ज़्यादा ही छूट दी। खुद से डराकर रखा ही नहीं। पर हम यह जानते हैं कि स्कूल या स्कूल से बाहर हमारे सबसे उपद्रवी बच्चे व युवा जो हर प्रकार की सत्ता का घोर व हिंसक विरोध करते हैं, जो अपने गुण्डादल बनाते हैं, अपराध करते हैं, वास्तव में वे बच्चे व युवा होते हैं जिन्हें कठोरतम अनुशासन और दण्ड के साथ पाला गया है।

उपरोक्त प्रश्न के उत्तर का एक महत्वपूर्ण हिस्सा दरअसल कहीं और है। जब भी मैं पुरानी पीढ़ी की सत्ता खोने की बात सुनता हूँ तो मुझे 1959 की एक घटना याद आती है। उस वक्त मैं पाँचवीं जमात में था। दिन में एक समय ऐसा होता जब बच्चे अपनी कक्षा में इधर-उधर घूम सकते थे, बातचीत कर सकते थे। एक दिन मैंने चार-पाँच बच्चों के समूह में से एक को कहते सुना, “अगर मैं बड़ा हो सका...!” यह भला क्या बातचीत हो रही थी? “अगर मैं बड़ा हो सका!” मैं दस वर्षीय बच्चों को बखूबी जानता था। वे इस कदर चुनौती भरे और ढीठ होते हैं, कोई बात बेवकूफी भरी या गलत लगे तो फौरन उसकी खाल खींचने लगते हैं। अतः मुझे उम्मीद थी कि समूह में कोई दूसरा तुरन्त बात पकड़ेगा और कहेगा, “क्या मतलब है तुम्हारा, ‘अगर मैं बड़ा हो सका...?’ क्या तुम बीमार-वीमार हो?” पर किसी ने उसे टोका नहीं। कुछ देर बाद मुझे अहसास हुआ कि वह सबके दिल की बात कह रहा था।

मुझे पैरों तले की ज़मीन खिसकती लगी। “अगर मैं बड़ा हो सका!” दस साल की उम्र में अपने जीवन की स्मृति हो आई। तब मेरी अपनी दुश्चिन्ताएँ, समस्याएँ थीं और डर था। पर उनमें यह दुश्चिन्ता शामिल नहीं थी कि मैं बड़ा हो सकूँगा या नहीं। ज़ाहिर था कि मैं बड़ा हो ही जाऊँगा। भविष्य की मेरी छवि काफी धूमिल-सी थी। मेरी कल्पना या महत्वाकांक्षा मुझे इस उम्मीद से आगे नहीं ले जाती थी कि किसी रोज़ मैं किसी कॉलेज की फुटबॉल टीम में खेल पाऊँगा। पर उसके परे मुझे कुछ नहीं सूझता था। और इसके छह साल बाद

भी भविष्य बहुत स्पष्ट नहीं था। पर मुझे कम से कम यह विश्वास ज़रूर था कि मेरा भी एक भविष्य होगा। मेरा जीवन कहीं दूर, पर फिर भी मेरे सामने था।

मेरी पाँचवीं जमात के बच्चों ने कई दूसरी चीज़ें भी कही या लिखीं। इससे यह स्पष्ट हो गया कि उनमें से ज्यादातर बच्चों के मन में भविष्य के प्रति आश्वस्त का भाव नहीं था। ये मध्यमवर्ग या सम्पन्न परिवारों के बच्चे थे। एक जीवन उनका इन्तज़ार कर रहा है, यह भाव नहीं था। कुछ सालों बाद मैंने पढ़ा कि इस उम्र के कई बच्चों ने मनोवैज्ञानिकों और मनोचिकित्सकों को बताया कि उन्हें आणविक बम के, दुनिया के खत्म हो जाने आदि के दुःस्वप्न आते थे। इन बच्चों को युद्ध के दौरान आणविक बम से सुरक्षा की ड्रिलें करवाई जाती थीं। अपनी मेज़ों के नीचे दुबकने-छिपने का अभ्यास करवाया जाता था। मैंने अपना काफी समय एटम बम के बारे में, उसके बारे में क्या किया जाना चाहिए आदि पर सोचने-विचारने में बिताया था। उन बच्चों की तुलना में कहीं ज़्यादा समय। पर न तब, न उसके बाद कभी, मुझे आणविक युद्ध या दुनिया के विनाश का सपना आया। अपने अन्दर की गहराइयों में, अकारण ही, मैं यह मानता हूँ कि विस्फोट नहीं होगा। पर तमाम बच्चे और किशोर मानते हैं कि आणविक बम ज़रूर फटेगा। बचपन में, सुखी या दुखी दोनों ही स्थितियों में, मुझे यह विश्वास रहा था कि मेरे आगे एक भविष्य है। पर मेरी पाँचवीं जमात के बच्चे ऐसा नहीं मानते थे। अपनी उम्र के तमाम दूसरे बच्चों के साथ ये दस वर्ष बाद सबसे उपद्रवी कॉलेज छात्रों की पीढ़ी में शामिल होने वाले थे। मैंने कई बार यह भी पढ़ा है कि जब किशोरों से यह पूछा गया कि वे धूम्रपान क्यों करते हैं, तो जवाब मिला कि वैसे भी हम चालीस के पार कब जीने वाले हैं। शायद लूइस मम्फोर्ड ने कहा था कि कई युवा लोग जिनसे उन्होंने बातचीत की थी, एक तीसरे विश्वयुद्ध के परिणाम और विध्वंस के डर में जी रहे हैं। मानों हमारी तमाम दुष्कल्पनाएँ वास्तव में घट चुकी हों। यह भाव युवाओं द्वारा लिखी गई पुस्तकों तथा अखबारों व पत्रिकाओं में छपे उनके आलेखों से भी साफ-साफ उभरता है।

निश्चय ही इस भावना का सम्बन्ध बड़ों की सत्ता खो जाने से है। सत्ता कभी किसी एक शक्ति पर आधारित नहीं होती। जो सत्ता केवल शक्ति पर निर्भर करती हो वह तो पहले ही मृत है और शीघ्र लुप्त भी हो जानी है। वास्तविक सत्ता भी यदाकदा स्वयं को ताकत में अभिव्यक्त करती है, ताकि वह याद दिला सके या बाहरी तत्वों को नियंत्रित कर सके। पर अगर सत्ता वास्तविक और उचित है तो उसका आधार नैतिक होता है। हमारी संस्कृति ही वह अकेली संस्कृति नहीं है जिसमें अपने से बड़ों के विरुद्ध युवाओं ने आवाज़ उठाने के

लिए संघर्ष किया हो। जिसमें बड़ों ने पलटकर युवाओं को धकियाते हुए कहा हो, रुको, अभी नहीं, अभी नहीं। पर पूर्वगामी संस्कृतियों में युवा यह जानते थे कि भविष्य की कुंजी बुजुर्गों के हाथों में है। बड़े ही एक समाज, एक जीवन शैली, एक चालू कारोबार को नियंत्रित करते थे। और जब उन्हें लगता कि युवा तैयार हो चुके हैं तो वे बागडोर युवावर्ग को थमा देते थे। अतः जब बड़े कहते थे कि हमारी तरह करो, हम पर भरोसा रखो, हम जानते हैं, तुम नहीं जानते, तुम अभी पूरी तरह तैयार नहीं हो, तो युवाओं की प्रतिक्रिया यह होती कि शायद वे सही कह रहे हैं। शायद इन बड़े-बुजुर्गों को सच में, कभी-कभार यह तो पता होता ही होगा कि वे दरअसल क्या कर रहे हैं।

परन्तु जब दुनिया के सबसे भाग्यवान देश के सबसे भाग्यवान परिवारों के दस वर्षीय बच्चे अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त न हों, जब उन्हें यह भी भरोसा न हो कि वे कभी बड़े भी हो सकेंगे, तो हमारे पास वह दुनिया ही नहीं है जहाँ कोई यह कह सके कि, पापा ही सबसे सही जानते हैं।

बच्चे चेहरे भाँप सकते हैं। सभी गुलामों और शक्तिहीन लोगों की तरह वे भी अपने शासकों के चेहरे देखना और पढ़ना सीख लेते हैं, ताकि अनुमान लगा सकें कि आगे क्या होगा। वे चेहरे पढ़ने में माहिर होते हैं। और जो कुछ वे कई चेहरों पर देखते हैं, वह उन्हें बहुत बेचैन करता है। एरिक फ्रॉम ने कहीं लिखा था कि उन्होंने एक प्रमुख सचित्र पत्रिका में किसी बड़े शहर के एक मोड़ पर खड़े कुछ लोगों के समूह का एक चित्र देखा था। फोटोग्राफर ने टेलीफोटो लेंस का उपयोग किया था सो उन लोगों को पता नहीं था कि उनका चित्र खींचा जा रहा है। उस समूह के अधिकांश लोगों के चेहरों पर संत्रास, दर्द, भय और जुगुप्सा का जो भाव था उससे फ्रॉम को लगा कि उन्होंने कुछ पल पहले ही किसी भयावह दुर्घटना को देखा होगा। पर ऐसा कुछ भी नहीं था। वे तो सड़क पार करने के लिए हरी बत्ती का इन्तज़ार भर कर रहे थे। इसी तरह लोगों की आवाज़ें भी इससे बहुत अलग नहीं होतीं। और हँसी, वह तो अक्सर सबसे खराब होती है। जो लोग ऐसे दिखाई या सुनाई पड़ते हों, उन पर भरोसा कैसे किया जा सकता है? उन जैसा बनने की इच्छा भला कौन पाल सकता है?

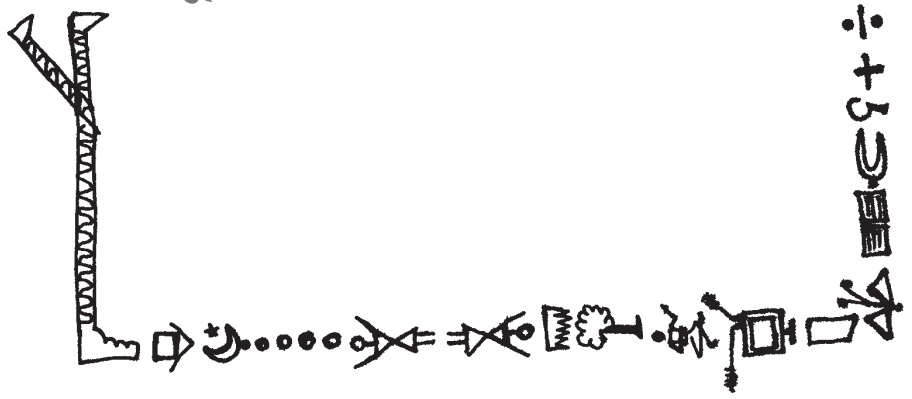
एक ऐसी पीढ़ी जिसे यह विश्वास ही न हो कि वह अपनी पसन्द का कोई भविष्य रच सकती है या जिसे अपनी कल्पना के भविष्य में न तो आस्था हो, न ही वह उसे प्यार कर सके, तो वह पीढ़ी अपने बच्चों को क्या थाती सौंपेगी? उसके पास नौजवानों को कहने के लिए क्या होगा? यह एक विडम्बना लग सकती है कि हमारे समाज में पूर्व के किसी भी समाज से कहीं अधिक घटनाओं, प्रकृति, इंसानों, सब कुछ को नियंत्रित करने की सनक सवार है। एक डूबता इंसान तिनकों का सहारा ढूँढता है, ठीक वैसे ही हम हरेक निश्चितता को

बनाना या पकड़ना चाहते हैं। हम बदलाव और प्रगति की पूजा इस विश्वास से करते हैं कि जो कुछ नया होगा वह पुराने से बेहतर ही होगा। हम मानते हैं कि हम सब कुछ बदल सकते हैं। सबको सुधार सकते हैं। पर फिर भी सच में एक व्यापक अर्थ में यह भरोसा नहीं करते कि हम चीज़ें ठीक उस तरह बदल सकते हैं जैसे हम चाहते हैं।

द सैटरडे रिव्यू ऑफ साइन्स ने हाल में एक आलेख छपा था जिसका शीर्षक था “द अनस्पॉइल्ट प्लेसेस ऑफ द वर्ल्ड” (दुनिया के अविकृत स्थान)। इस शीर्षक के निहितार्थ पर गौर करें कि दुनिया के अधिकांश स्थान खराब किए जा चुके हैं। ये अविकृत स्थान लगभग हमेशा ही भारतीय महासागर में स्थित सेशैल्स जैसे दूरस्थ द्वीप होते हैं। लेखक ने लिखा था कि अब दुनिया के कोने-कोने से लोग इन अविकृत स्थानों में जा रहे हैं, ताकि उनके *विकृत हो जाने से पहले* उन्हें देखा जा सके। जाने वालों में अधिकांश धनाढ्य लोग हैं। आधुनिक मनुष्य के विषय में यह कथन अजीबोगरीब है। एक तरफ हम यह मानते हैं कि मानव में देवताओं के समान शक्तियाँ हैं। वह चाहे जैसी मशीनें बना सकता है। वह पदार्थ से ऊर्जा पैदा कर सकता है, ब्रह्माण्ड की यात्रा कर सकता है। पर उसे लगता है कि उसने दुनिया में लगभग सब कुछ विकृत कर दिया है। उसे यह भरोसा तक नहीं है कि जो स्थान उसने अब तक नहीं बिगाड़े हैं उन्हें विकृत होने से वह रोक भी सकता है। और ऐसे कितने लोग हैं जो यह विश्वास कर सकते हैं कि जिस जगह वे आज रहते हैं, चाहे वह शहर हो, कस्बा हो, मुहल्ला हो या उनका देश, आज से दस साल बाद वह जगह एक बेहतर जगह होगी? लोग आज यह सपना तक नहीं देखते कि शायद ऐसा हो जाए या हम शायद अपनी जगह को एक बेहतर जगह बना सकें। ज़्यादा से ज़्यादा वे यही उम्मीद कर सकते हैं कि इस संकट को वे कुछ समय के लिए टाल सकेंगे। और जब सिर पर विपदा आन ही पड़े तो वे इतने धनी तो होंगे कि भागकर उस अविकृत द्वीप पर पनाह ले लें। वहाँ कुछ समय रहें। जब तक वह द्वीप भी विकृत न हो जाए, बिगड़ न जाए।

हमने एक झूठा सपना रचा है और उसे प्रगति का नाम दे डाला है। और अब जब सपना पूरा होता नहीं दिख रहा है तो हम हताश हैं। किसी और चीज़ की कल्पना हम कर ही नहीं पा रहे हैं। अगर नई से नई चीज़ों और वस्तुओं की अधिकाधिक उपलब्धता मिलकर उम्दा जीवन नहीं बनाते, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि अच्छे जीवन जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। हमारे पास कोई चारा ही नहीं है। हमें तो बस उस ट्रेडमिल पर खड़े भागते जाना है, जो हमें कहीं नहीं पहुँचाएगी।

जीवन की असंख्य "विपदाएँ"



## 6. जीवन की असंख्य “विपदाएँ”

बाल्यावस्था और शेष जीवन के बीच हमारे द्वारा बनाया गया फासला निरन्तर बढ़ते जा रहे तमाम फासलों में से एक है। जीवन की निरन्तरता एक से अधिक जगहों से तोड़ी जा रही है। हम जानते हैं कि हमारे वृद्ध लोग किस कदर कटे हुए हैं। अपने “वरिष्ठ नागरिकों” की हम कितनी ही बात क्यों न कर लें, हम जानते हैं कि बुढ़ापा जीवन का बेकार जा रहा निरर्थक समय है। वहाँ पहुँचने के बाद किसी को आपकी ज़रूरत नहीं होती, किसी की आप में रुचि नहीं होती। आप बेकार की आफत बन जाते हैं, महज़ एक सिरदर्द। आप कुछ कर नहीं पाते हैं और आप कुछ जानते भी तो नहीं हैं। और जो कुछ जानते भी हैं वह जानने लायक नहीं होता।

पर यह भी जीवन का एकमात्र संकट या बुरा समय नहीं होता। मुझे तमाम सफल और बाहर से खुश नज़र आने वाले लोगों ने बताया है कि उनके चालीसवें जन्मदिन ने उन्हें हिलाकर रख दिया, बहुत बड़ा सदमा पहुँचाया। उस दिन उन्हें यह संकेत भी मिला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ हिस्सा समाप्त हो चुका है। आज वह स्थिति आ चुकी है जब हम मानव जीवन को संकटों की एक निरन्तर श्रृंखला के रूप में देखते हैं। वयःसन्धि का संकट, किशोरावस्था का संकट, मध्यआयु का संकट, वृद्धावस्था का संकट। लगता यह है कि सबको सिर्फ़ इक्कीस से इक्तीस वर्ष की आयु का ही होना चाहिए।

उपरोक्त पंक्तियाँ लिखने के चन्द दिनों बाद मैं शिकागो जा रहा था। 6 मार्च 1973 के *शिकागो ट्रिब्यून* में मैंने रिजले हंट का एक लेख पढ़ा जिसका शीर्षक था “वैदरिंग द स्टॉर्म ऑफ़ द मिडिल इयर्स।” इसमें अमरीकी चिकित्सक संघ के आगामी सम्मेलन का उल्लेख करते हुए हंट ने लिखा था (उन्हें शब्दशः उद्धृत करने की अनुमति *ट्रिब्यून* ने नहीं दी है) कि जिस युग में जीवन अधिक सहज था, तब प्रौढ़ वयस्कों को प्रदूषण, सामुदायिक शाला की गुणवत्ता आदि की चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। पर जिस समय से लोगों को आराम के लिए खाली समय मिलने लगा है, उनके मन को नौकरियों की ऊब, बच्चों से अपने रिश्तों की फिक्र और अपने यौन जीवन की चिन्ता घेरने लगी है। हंट ने आगे जोड़ा कि इस तीन दिवसीय सम्मेलन में अमरीकी चिकित्सक संघ मध्य आयु के जीवन की गुणवत्ता को जाँचेगा तथा यह जानने की कोशिश करेगा कि इस

उम्र के लोगों का जीवन इतना कष्टदाई क्योंकर होता है। और इसे सुधारने के क्या उपाय किए जा सकते हैं।

इस पर तीन टिप्पणियाँ। पहली यह कि “जिस युग में जीवन सहज था” मुझे शक है कि उस युग में कोई भी “मध्यआयु” जैसे जुमले को काम में लेता होगा। न ही लोग “जीवन की गुणवत्ता” जैसी अमूर्त और अस्पष्ट चीज़ों को लेकर बहुत चिन्तित होते थे। जब उन्हें समस्याएँ होतीं तब उन्हें पता होता था कि कठिनाई दरअसल है क्या! आग, कीट या सूखे से उनकी फसल का चौपट हो जाना। या प्लेग की महामारी का उन्हें बीमार कर जाना। या फिर शासकों के कमरतोड़ कर के बोझ तले दबे रहना। या युद्ध में उनका मर-खप जाना और खेतों का उजड़ जाना। वे बखूबी जानते थे कि इन समस्याओं के बारे में क्या किया जाना चाहिए। भले ही वे वह सब कर पाते हों या नहीं।

अन्तिम टिप्पणी यह है कि यह हमारे युग की सोच का ठेठपन भी दर्शाता है। हम सोचते हैं कि अपना जीवन ठीक से नहीं जी पाने या जीना नहीं जानने की समस्या को कुछ “विशेषज्ञ” ही ठीक कर सकते हैं। यह भ्रान्ति, यह आधुनिक अन्धविश्वास, हमारी समस्याओं के मर्म में बसा हुआ है।

हंट आगे लिखते हैं कि अमरीकी चिकित्सक संघ के अधिकारी डॉ. एफी एलिस, जिन्होंने सम्मेलन के नियोजन में सहायता की, मध्य आयु को “अचीन्हा क्षेत्र” यानी अज्ञात विषय कहते हैं। मुझे पूछना है कि यह किसके लिए अज्ञात है? क्या डॉ. साहब कहना चाहते हैं कि जो लोग मध्य आयु को जीते हैं वे उसके बारे में तब तक कुछ नहीं जानते जब तक कोई विशेषज्ञ उन्हें इसके बारे में बता नहीं देता?

डॉ. एलिस ने ऐसे लोगों का ज़िक्र किया जो अपनी नौकरी या काम से इस कदर पिस चुके थे कि रातों को सो नहीं पाते थे। वे आगे जोड़ते हैं कि पूर्वयुग में “अस्तित्व का संघर्ष” लोगों की इतनी ऊर्जा सोख लेता था कि उनके पास दूसरी समस्याओं के लिए वक्त ही नहीं होता था। परन्तु अब लोग “फुरसत का आनन्द” ले सकते हैं। इन फुरसत और आराम के क्षणों में व्यक्ति तलाक, प्रदूषण, रंगभेद, बुढ़ापा, उच्छृंखल बच्चे, क्षीण होती यौनशक्ति आदि की चिन्ता करता है। ये दुश्चिन्ताएँ उसे मोटा और चिड़चिड़ा बनाती हैं। उसे पेट के नासूर, उच्च रक्तचाप और हृदय रोग आदि की भेंट देती हैं और वह राहत की गुहार करता रहता है।

पर ऐसे जीवन का वर्णन करते समय डॉ. एलिस “फुरसत का आनन्द” जैसे शब्दों का उपयोग क्यों करते हैं? हममें से अधिकांश लोग ऐसे शब्दों को क्योंकर स्वीकारते हैं? क्योंकि इन शब्दों का निहितार्थ तो यह है कि आधुनिक संस्थाओं

ने हमें जो जीवन उपलब्ध करवाया है वह बहुत ही बढ़िया है। केवल हम ही अपनी बेवकूफी और अन्दरूनी उलझनों के कारण उसका आनन्द नहीं उठा पाते हैं। अतः हमें विशेषज्ञ दरकार हैं ताकि वे मिलजुल कर बैठें और चर्चा के बाद हमें बताएँ कि हम उसका आनन्द कैसे लें।

इसी प्रकार मुझे यह भी असम्भव लगता है कि आज तक जितने भी लोगों ने भोजन, वस्त्र व आवास की ज़रूरतें पूरी करने के लिए आवश्यक काम करते हुए और सामुदायिक जीवन के ढाँचों को प्रबन्धित करते हुए अपना जीवन जिया है, वे अपने तमाम उपक्रमों को “अस्तित्व के संघर्ष” के रूप में देखते होंगे। क्या व्यक्ति अपने अन्न को उपजाते समय, जिसे वह खाने वाला है या अपने पहनने के वस्त्र को बनाते समय, अपने घर की मरम्मत करते समय “संघर्ष” कर रहा होता है? यह विचार ही बेतुका है। केवल संकटकाल में जब अन्न या जलावन का अभाव होता होगा या फिर युद्ध अथवा प्राकृतिक विपदा उनके घर उजाड़ देती होगी, तब ही वे संघर्ष की बात सोचते होंगे। आधुनिक मनुष्य की समस्या यह है कि उसने स्वयं को ऐसी संस्थाओं पर निर्भर बना डाला है जिनको न तो वह जान सकता है, न नियंत्रित कर सकता है। स्थिति अधिकाधिक अर्थों में ऐसी बनती जा रही है कि वह अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं नहीं करता या उसे ऐसा करने की अनुमति तक नहीं होती। अब विशेषज्ञों की टोली द्वारा निर्देशित हुए बिना वह स्वयं को “मोटापे” की बीमारी तक से नहीं बचा पाता।

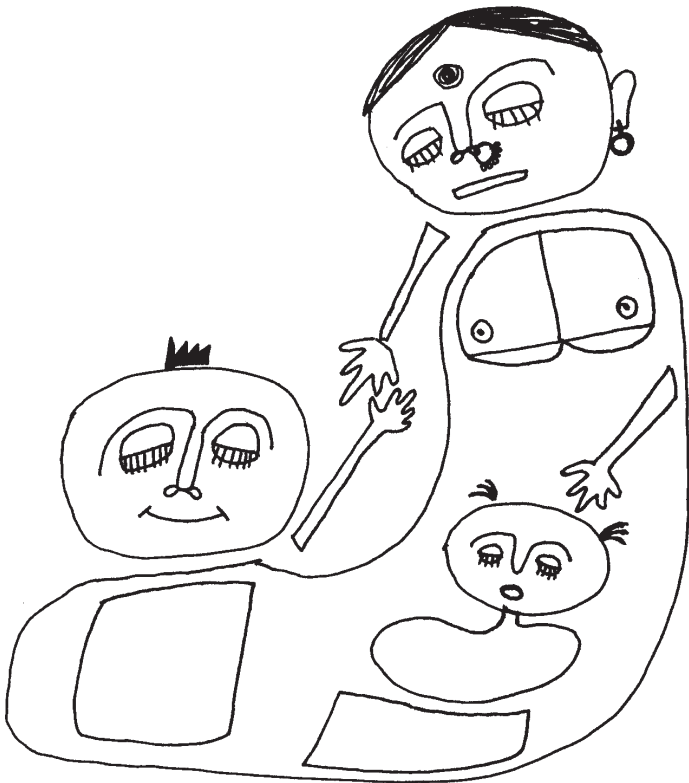
सम्भव है आपको लगे कि ये तमाम विचार बच्चों के प्रति हमारे सरोकारों से बहुत दूर हैं, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। बाद में जब मैं बच्चे द्वारा स्वयं अपने संरक्षक को चुनने या स्वयं अपनी सुरक्षा करने के अधिकार की चर्चा करूँगा, तो इस अध्याय पर लौटूँगा। हम बच्चों को यह कैसे बता सकते हैं कि वे अपना जीवन कैसे जिँएँ जब यह ज़ाहिर है कि हम खुद ही अपना जीवन जीना नहीं जानते? और जब हम उन्हें इस विषय पर बताते हैं तो वे भला हमारी बात पर ध्यान क्यों दें?

हंट आगे बताते हैं कि अमरीकी चिकित्सक संघ के नवनिर्वाचित अध्यक्ष डॉ. जेम्स प्राइस ने कहा है कि उनके मरीज़ों में से बीस प्रतिशत वे शिशु या बच्चे हैं जिन्हें “निरोग बालक परामर्श” के लिए लाया जाता है, या वे वयस्क हैं जो सामान्य चैकअप या शारीरिक जाँच के लिए आते हैं। ये सब केवल अपनी हालत सुधारना चाहते हैं या बस इतना जानना चाहते हैं कि वे सेहतमन्द कैसे रह सकें। उनके चालीस प्रतिशत रोगियों को किसी अंग विशेष सम्बन्धी रोग होता है। बहुत सम्भव है कि इनके बारे में चिकित्सक कुछ कर सकते हैं। शेष चालीस प्रतिशत को हम जीवन की गुणवत्ता के मरीज़ कह सकते हैं। पेट के



नासूर, दमा, चर्म रोग आदि जैसे इनके आधे रोग चिन्ताओं के कारण होते हैं। बाकि मरीजों को कोई भी पहचाना जाने वाला रोग नहीं होता। यद्यपि उनकी पीड़ा बिलकुल वास्तविक होती है।

कुछ और टिप्पणियाँ। अव्वल तो यह “निरोग बालक परामर्श” भला क्या है? जब बीमार होने पर हमें चिकित्सक के पास जाना पड़े, तो यह हमारी मजबूरी है। पर क्या तब भी जाना ज़रूरी है जब हम भले-चंगे हों? “निरोग बालक परामर्श” में क्या होता है? उसका शुल्क क्या है? (मुझे बाद में पता लगा कि यह शुल्क 8 से 25 डॉलर के बीच होता है और कई स्कूलों में यह एक वार्षिक अनिवार्यता होती है।) और वह शारीरिक जाँच? इस दौरान जो चिकित्सक करता है उसे “रूटीन चैकअप” कहते हैं। ऐसी जाँच मुहल्ले की दवा की दुकान में भी की जा सकती है। क्योंकि जब खून या पेशाब की जाँच होती है तो वह भी प्रयोगशाला का कोई ऐसा व्यक्ति ही करता है जो चिकित्सक नहीं होता। तो फिर हमें प्रयोगशाला या उस टेक्निशियन तक पहुँचने के लिए चिकित्सक के मार्फत क्यों जाना पड़ता है? क्या ये जाँचें इतनी मुश्किल हैं कि हम उन्हें कुछ सप्ताह में खुद करना नहीं सीख सकते? (मधुमेह के रोगी हर दिन अपने खून या पेशाब को जाँचकर रक्त में शर्करा का स्तर पता लगाते हैं।) इस सबसे हमें आभास मिलता है कि हमारे स्वास्थ्य का स्रोत हमारी जीवन शैली नहीं बल्कि वह रहस्यमय ज्ञान है जो चिकित्सक के पास ही होता है। ठीक उसी तरह हमारी आय का स्रोत हमारा काम न होकर वह रहस्यमय वस्तु है जो “अर्थव्यवस्था” के नाम से जानी जाती है। ऐसी अर्थव्यवस्था जो किसी भी पल किन्हीं अज्ञात कारणों से हमें बेरोज़गारी और गरीबी की स्थिति में धकेल देती है। इन कारणों के बारे में कोई नहीं जानता और न कुछ कर पाता है।



## 7. बच्चों का बोझ

चारदीवारी से घिरा बाल्यावस्था का बाग अक्सर प्रभावी नहीं होता। क्योंकि इसे बनाने और इसकी देखरेख करने वाले लोग, स्वयं इसमें रह नहीं सकते। इससे उनके मन में उन बच्चों के प्रति दुर्भाव उपजता है जिनके लिए यह बनाया गया है। न जाने कितनी ही बार वयस्कों ने अपने जीवन की तुलना बच्चों के जीवन से की होगी। और कटुता से सोचा होगा, “इनके लिए सब कुछ इतना आसान क्योंकर है, जबकि हमने तो इतनी कठिनाइयाँ झेली थीं?” अक्सर यह बात मन में न रहकर बाहर भी निकलती है। ऐसे में बच्चों को कठोर बाहरी वास्तविकता से बचाने के लिए बाग बनाने वाले लोग, उसी कठोर बाहरी वास्तविकता के नाम पर उसमें खरपतवार, पत्थर, टूटे काँच और कँटीले तार लगाने लगते हैं। “उन्हें भी सीखना चाहिए,” वे गुस्से में कहते हैं, “कि दरअसल बाहरी दुनिया होती कैसी है?”

विगत कई सालों से, विविध स्थानों और स्थितियों में मैंने गौर किया है कि वयस्क बच्चों के साथ वैसा व्यवहार नहीं करते, जैसा वे अपनी पसन्द के लोगों के साथ करते हैं। बल्कि इसका विपरीत व्यवहार ही करते हैं। वे चिन्ताग्रस्त, चिड़चिड़े और अधीर हो जाते हैं। खोट निकालने की कोशिश में लगे रहते हैं। इसमें वे सफल भी होते हैं। उनमें आनन्द छोड़, सहजता तक नहीं होती। यह बात उन लोगों के लिए भी सच है जो छुट्टियाँ मनाने, किसी खुशी के आयोजन में, किसी बाग में सैर करने, या कोई सरकस या मेला देखने गए हों। अर्थात् जो वह सब कर रहे हों जिसे मौज-मस्ती कहा जा सकता है। वातावरण में दबाव, तनाव, संघर्ष होता है। एक भयावह-सा धैर्य जो स्थितियों को हँसी-खुशी स्वीकारने के बदले आक्रोश को सायास रोकने से उपजा हो। सार्वजनिक स्थानों में बच्चों को कोप दृष्टियाँ झेलनी पड़ती हैं, जब तक वे प्यारे अर्थात् छोटे, सुन्दर और सजे-धजे न हों। ये नज़रें बच्चों से मानो पूछती हैं, “तुम भला क्या कर रहे हो? क्या खुराफात सूझ रही है? माँ-बाप कहाँ हैं? तुम उनके साथ क्यों नहीं हो? कोई वयस्क तुम्हारी निगहबानी क्यों नहीं कर रहा है - यानी, तुम क्या करो यह तुम्हें क्यों नहीं बता रहा है?”

इस कुढ़न और नापसन्दगी के कई कारण हैं। आज से कुछ समय पहले तक एक अधिक सरल समाज में बच्चों को पालना इतना कठिन नहीं था। अगर वे

अपने प्रारम्भिक वर्षों में किसी तरह बच जाते, तो जल्द ही उपयोगी बन जाते थे। वे अपनी ज़रूरत से कहीं ज़्यादा कमा लेते थे। अधिक बच्चों वाले पुरुष को भाग्यशाली माना जाता था। बच्चे कीमती सम्पत्ति थे, परिवार के लिए तैयार श्रमजीवी। और जहाँ वे उपयोगी नहीं हो पाते, या जहाँ उनके श्रम की इतनी आवश्यकता नहीं होती थी, वहाँ भी उन्हें इतनी निगरानी की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। कस्बों और शहरों में इतनी भीड़भाड़ नहीं थी। वे कम खतरनाक स्थान थे। वहाँ वाहनों की संख्या कम थी, फलतः वे आज की तुलना में कहीं अधिक सुरक्षित स्थान थे। बच्चों के घूमने-खेलने की खूब जगह थी। 1920 में मैं मैनहैटन में रहता था। वहाँ आज की तरह का आम दिखने वाला ट्रैफिक जैम एक बिरली घटना थी। यातायात का अवरोध शहर के केन्द्र में, छुट्टियों के मौसम में ही दिखता था। मैनहैटन के मुख्य रास्ते, जैसे छियासीवीं स्ट्रीट पर तो यातायात बहुत ही सीमित था। मेरे एक अच्छे मित्र ने बताया कि कुछ वर्षों बाद ब्रुकलिन में वह अपने दोस्तों के साथ दिन भर सड़कों पर फुटबॉल, स्टिकबॉल, हॉकी आदि खेला करता था। उनकी माताएँ बिना फिक्र किए उन्हें घर से बाहर खेलने भगा देती थीं। जब मेरा परिवार शहर छोड़ कनेक्टिकट के उपनगर में रहने गया, तो अपने दोस्तों के साथ मैं तमाम उन जगहों पर पैदल जाता जहाँ बच्चों को आज गाड़ी से ले जाना पड़ता है। हम गाँव के बच्चे नहीं थे। हम बस से स्कूल जाते थे। पर अगर मौसम अच्छा होता तो कुछ मील पैदल चल किसी दोस्त से मिलने या सिनेमा देखने जाने में हमें सोचना नहीं पड़ता था। सड़कें सुरक्षित थीं और किसी को हमारी फिक्र भी नहीं होती थी।

सम्भवतः जब इतने सारे बच्चे बाल रोगों के कारण कम उम्र में ही मर जाते थे, ऐसे में अभिभावकों को उनको चोट लगने की या किसी दूसरी तरह से मर जाने की चिन्ता भी कम ही होती होगी। और अगर चिन्ता करते भी होंगे, तो खुद को दोष कम ही देते होंगे। सम्भव यह भी है कि वे इतने व्यस्त थे कि उन्हें चिन्ता करने की फुरसत ही नहीं रहती होगी। पर अब बच्चों का लालन-पालन कई लोगों के लिए अनन्त चिन्ता का विषय है। एक बड़े परिवार की माँ ने बताया कि पहले बच्चे के पैदा होने के पल से अन्तिम बच्चे के बड़े हो जाने तक वे एक भी रात ढंग से सो नहीं पाईं। इस कारण वे हमेशा ही थकी-थकी रहती थीं। एक शिशु की माँ बच्चे के सोने के साथ खुद भी ऊँघ लेती है, पर प्रकृति का ही कोई नियम होगा कि दो शिशु कभी भी एक साथ नहीं सोते। कई अन्य माताओं ने भी इस प्रकार की थकान की बात कही है।

ब्रिटिश उपन्यासकार मार्गरेट ड्रेबल का एक लेख *न्यू यॉर्क टाइम्स* में 4 अगस्त 1973 को छपा था। शीर्षक था “विद ऑल माय लव, (साइन्ड) ममा”। लेख

बच्चे होने की पैरवी व प्रशंसा में लिखा गया था। उन्होंने कहा:

छोटे बच्चों के बारे में प्रसिद्ध है कि वे बेहद थकाऊ होते हैं। आम तौर पर इन्हें टुमकु (टॉडलर) जैसा अपमानजनक नाम दिया जाता है।...में अब सोचती हूँ कि बाल्यावस्था के इस चरण की पीड़ा की तुलना में उसका आनन्द कहीं अधिक है। यद्यपि ज़ाहिर है कि उस समय मैं ऐसा नहीं सोचती थी। उस वक्त को याद कर कभी-कभी सोचती हूँ कि मैं उसे कैसे झेल सकी। लगता है कि व्यक्ति बुरे से बुरे वक्त को झेलने के लिए अनुकूलित होता है। अब इस वक्त मुझे मानना पड़ेगा कि बच्चों का चस्का भयावह और गम्भीर असुविधाओं को साथ लेकर आता है। उस स्थिति के सुन्दर पलों की स्मृतियाँ याद करना अच्छा लगता है, पर बुरे वक्त का क्या करें - वह थकान, बीमारियाँ, नाराज़गी और बीमार कर डालने वाली वह अनन्त दुश्चिन्ता? एक बेहद गहरे स्तर पर देखें तो बच्चे होने के बाद व्यक्ति कभी निश्चिन्त नहीं हो सकता; लगता है मानो हरेक सुख व आनन्द कब्र से छीनकर निकाला गया हो। बच्चे तो भाग्य के बन्धक हैं, मेरे बच्चे होने से पहले मैं कमोबेश एक निश्चिन्त और साहसी इंसान थी। पर अब मुझे निरन्तर सीट बैल्टों की चिन्ता सताती है, भय लगता है कि नीची उड़ान भर रहा कोई हवाई जहाज़ मेरे बच्चों के स्कूल पर तो नहीं जा गिरेगा।

उपरोक्त शब्द लिख रही महिला गरीब नहीं है। वह उस काम को करती है जो उसे सबसे ज़्यादा पसन्द है। इस काम में वह दक्ष है। उसके ढेरों प्रशंसक हैं। वह सफल है। और अगर बच्चे होने के बारे में वह यह सब सोचती है तो उस महिला की कल्पना करें जो गरीब है, या जिसे पैसों की चिन्ता है। जो कारखानों, दुकानों या घर पर सबसे उबाऊ और थकाऊ काम न्यूनतम मज़दूरी के नाम पर या मुफ्त में करने को बाध्य है? कुछ समय पहले एक माँ ने मुझे लिखा था:

बच्चे का आप पर इस कदर निर्भर होना आपके लिए एक भारी भावनात्मक बोझ है - न उसके खेलने के लिए कोई सुरक्षित जगह है, ना कोई विस्तृत परिवार जिसके साथ वह समय बिता सके। फलस्वरूप कई माताएँ अपने बच्चों के साथ लगातार रहती हैं। यह न तो बच्चे के लिए सही है, न ही माँ के लिए। तीन वर्षों तक मैं कभी भी दो-तीन घण्टों से ज़्यादा अपनी बच्ची से दूर नहीं हुई। यह भी मैं साल में शायद चार बार कर पाती थी। वह सोती ज़रूर थी पर चौदह-पन्द्रह माह की होने पर उसने दिन में सोना बन्द कर

दिया। फलस्वरूप मैं बातचीत तक के लिए अपने पति पर पूरी तरह निर्भर हो गई। यह उस पर भी एक बोझ बन गया। मैं पूरी तरह ऊबी हुई थी और बच्ची के साथ मेरा व्यवहार अधीरता भरा था। मैं समझ सकती हूँ कि माँ-बाप बच्चों को क्यों पीटते हैं। दो बार मैं खुद भी यही करने वाली थी। मैं जानती हूँ कि अगर उस वक्त मैं उसके कमरे में घुसी होती या उस पर हाथ उठाया होता तो मैं उसे गम्भीर नुकसान पहुँचाती। मैं स्वयं को खूब थका हुआ पाती थी। कुछ तो इसलिए कि मैं इतनी ऊबी हुई थी - एक दो वर्षीय बच्चे के स्तर पर उतर कर हर रोज़ बारह घण्टे सोचना बड़ा थकाने वाला काम होता है। दूसरा कारण यह था कि वह बस मुझे ही मुझे देखती थी और घर से बाहर खेलने तक नहीं जा सकती थी। उसमें ढेर सी ऊर्जा थी जो लगातार मुझ पर उछाली जाती थी। पूरा परिदृश्य बेहद खराब था। बल्कि मैं तो कहूँगी कि नर्क कि मेरी कल्पना ही यह होगी - एकाध छोटे बच्चे के साथ फिर से किसी फ्लैट में अकेले कैद होना।

इस सबके अलावा बच्चों का मतलब आज बेइन्तहा खर्च भी होता है। कुछ समय पहले *बॉस्टन ग्लोब* में एक खबर छपी थी कि पैदा होने से बी.ए. की पढ़ाई करवाने तक का एक बच्चे का खर्च आजकल लगभग 40,000 डॉलर होता है। पर जो लोग अपने बच्चों को निजी शालाओं में पढ़ाना चाहते हैं, या जिनके बच्चे बीमार रहते हैं, या दुर्घटनाग्रस्त होते हैं, उनके लिए तो यह खर्च और भी ज़्यादा होता है। बहरहाल प्रत्येक माता-पिता पर यह बोझ है और गरीब से गरीब परिवार भी इस व्यय से बच नहीं सकते। कई शहरों और कस्बों में, जहाँ आधे से ज़्यादा लोग गरीब हैं और कुछ तो बेहद गरीब हैं, स्कूल खुलने के एक माह पहले हर कपड़े और दूसरी जिनसों की दुकान पर *बैक टू स्कूल* (स्कूल चलो) के पोस्टर नज़र आने लगते हैं। ऐसा उस शहर में भी होता है जिसे मैं अच्छी तरह जानता हूँ। हर दुकान, रेडियो और टेलीविज़न एक ही बात कहता है - खरीदो, खरीदो, खरीदो। कॉपियाँ, किताबें, पेंसिल-पेन, टिफिन डिब्बे, खेलकूद सामग्री और कपड़े। जो गरीब लोग यह सब खरीद नहीं सकते, वे भी कतारों में लगकर खर्च करने पर बाध्य होते हैं। वे बखूबी जानते हैं कि केवल धनी बच्चे ही पुराने, बदरंग, सस्ते या अनौपचारिक कपड़ों में स्कूल जाने की हिम्मत कर सकते हैं। अमीर बच्चे हमेशा अमीर मुहल्लों में ही रहते हैं और ऐसे स्कूलों में जाते हैं जहाँ दूसरे बच्चे भी उन्हीं की तरह ही सम्पन्न होते हैं। अब क्योंकि स्कूल भी जानते हैं कि वे अमीर हैं, इसलिए वे बच्चे मनचाहे कपड़े पहन सकते हैं। पर जिन स्कूलों में ज़्यादातर बच्चे गरीब हों, वहाँ काफी कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि वह दिखता कैसा है। इस काफी

कुछ में बच्चे की साख और स्कूल में मिलने वाले अवसर, शिक्षकों का उनके प्रति रवैया, आगे उसे कौन-से विषय दिए जाएँगे आदि आते हैं। बच्चा जितना अधिक मध्यमवर्गीय लगेगा, इस बात की सम्भावना उतनी अधिक होगी कि शिक्षक उसे पसन्द करेगा, उसकी मदद करेगा, उसे अच्छे विषय देगा या बेहतर समूह में डालेगा, उसकी गलतियों को अनदेखा करेगा या उसे माफ करेगा। सो गरीब इस सन्देश को न मानने की जुर्रत नहीं कर सकते कि अपने बच्चे को नए कपड़ों में स्कूल भेजो।

भावनात्मक और वित्तीय तौर पर आधुनिक बाल्यावस्था एक असाधारण बोझ है। इस बोझ के कल्पनातीत बनने के साथ ही माता-पिता से यह आग्रह भी बढ़ा है कि उनका *दायित्व* बच्चों को प्यार करना है। और बच्चों से आग्रह है कि उनका फर्ज़ है अपने माँ-बाप से प्यार करना। हम बच्चों और बड़ों को इस असाधारण, तनावपूर्ण और उलझन भरे रिश्ते में बाँध देते हैं। और कहते हैं कि उन्हें इसे पसन्द करना होगा या चाहना होगा। और अगर वे ऐसा नहीं कर पाते तो वे बेहद खराब हैं या फिर दिमागी रूप से बीमार हैं। इस बोझ से जूझते माता-पिता के पास कोई जायज़ तरीका नहीं बचता कि वे बिना शर्म या अपराधबोध के यह स्वीकार लें कि उन्हें उनके घर में रह रहे ये नन्हे इंसान खास पसन्द नहीं। वे उन्हें चिन्ताग्रस्त बनाते हैं और उनका पैसा सोख लेते हैं, या उन्हें लगता है कि काश उन्होंने बच्चे पैदा ही न किए होते या उनके पास कुछ और ही होता। दूसरी ओर बच्चों से यह उम्मीद रहती है कि जो उन्होंने माँगा नहीं और अक्सर जिसकी उन्हें दरकार भी नहीं, उसके लिए वे अपने माता-पिता के प्रति कृतज्ञ हों।

पहले के ज़माने में उम्र के साथ बड़े हो गए बच्चे उलझन कम और मददगार अधिक होते थे। पर आज वे मददगार कम और परेशानी का कारण अधिक बनते हैं। उन्हें जिन तमाम चीज़ों की ज़रूरत पड़ती है, या वे जिनका इस्तेमाल करते हैं या जिनकी वे माँग करते हैं, वे सब चीज़ें बड़े होने के साथ और महँगी होती जाती हैं - कपड़े, यातायात के साधन और इन सब से ऊपर शिक्षण। और तो और दूसरी तमाम तरह की परेशानियाँ हैं जिनमें वे फँसते हैं और अपने *माता-पिता को भी फँसाते हैं*। अक्सर किसी बच्चे के किसी अपराध में लिप्त पाए जाने पर उसके माता-पिता कहते हैं, “हमने उसे पालने-पोसने में कोई कसर नहीं छोड़ी, उसे सही तरह से बड़ा किया, उसे शैतानियों से दूर रखा, उसके सामने एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। हमें पता ही नहीं कि गड़बड़ कहाँ हुई।”

बच्चे होना और उन्हें पालना एक भारी बोझ इसलिए बनता है क्योंकि हम उन्हें एक खास नज़रिए या विश्वास से देखते हैं। 9 सितम्बर 1973 को रविवार के दिन *न्यू यॉर्क टाइम्स* में छपा एक व्यावसायिक विज्ञापन इस नज़रिए को स्पष्ट

करता है। विज्ञापन इस दृष्टिकोण का शोषण भी करता है। विज्ञापन में ऊपर की ओर एक चित्र है। ज़ाहिर है यह चित्र एक नन्ही-सी, प्यारी, सुनहरे बालों वाली बच्ची का है, जो कुछ सोचती-सी, गम्भीर-सी लगती है। विज्ञापन का शीर्षक है:

**प्रत्येक सामान्य बच्चा उत्कृष्ट कलाकृति या असफलता  
की सामग्री उपलब्ध करवाता है।**

इसके आगे विज्ञापन बताता है:

अधिकतर बच्चों में जन्म से ही एक गहरा व सन्तोषजनक जीवन जीने की “प्राकृतिक” क्षमता होती है...पर कई बच्चे बड़े होने पर दुखी और कुंठित होते हैं। प्रत्येक बच्चे का भविष्य उसके माता-पिता के हाथों में है। कूँची आपके हाथों में है! आप क्या चाहते हैं - उत्कृष्ट कलाकृति या असफलता?

आप श्रेष्ठ सामग्री से प्रारम्भ करते हैं, एक स्वस्थ शिशु, जिसे मनचाहा रूप दिया जा सके...

अपने असन्दिग्ध प्रेम और नेकनीयत के बावजूद माता-पिताओं में अक्सर वे कौशल नहीं होते जो दुनिया के सबसे बड़े काम के लिए आवश्यक हैं। यह काम है...सुप्रबन्धित परिवार तथा कुशल पालकों का जीवन जीते हुए उत्पादक युवा जीवन गढ़ना...

आपका पारिवारिक वातावरण ही आपके बच्चे को एक उत्कृष्ट कलाकृति का रूप दे सकता है या फिर एक घटिया नकल का...

यह भावना बड़ी बलवती है कि आपका बच्चा जो कुछ करता है या आप उसे जो कुछ करने देते हैं, उसके आधार पर लोग आपके बारे में राय बनाते हैं। एक दृश्य प्रस्तुत करता हूँ। इसे मैंने देखा है। माँ अपने बच्चे के साथ किसी सार्वजनिक स्थान पर है। शायद किसी सुपरमार्केट में। वह व्यस्त है। ध्यान कहीं और है। बच्चा खुशी से स्वतंत्र घूम रहा है। नुकसान पहुँचाए बगैर चीज़ों को देखते-छूते हुए वह मज़ा ले रहा है। अचानक माँ देखती है कि कोई वयस्क उसके बच्चे को घूर रहा है। वह तत्काल सत्ता का बाना ओढ़ लेती है। बच्चे से कहती है, “इधर आओ। यूँ दौड़ना बन्द करो। न जाने कितनी बार मना किया है कि चीज़ें छुई नहीं जाती हैं।” सम्भव है कि वह उसका हाथ भी झटके। दूसरे देशों में भी यह हमेशा होता है। लेलिया बर्ग अपनी मार्मिक पुस्तक *लुक एट किड्स* में कहती हैं कि वयस्क उन बच्चों को कुपित या घृणादृष्टि से देखते हैं जो लन्दन की बसों या सार्वजनिक स्थानों पर कुछ गलत या नुकसान किए



बिना मज़ा करते दिखते हैं। और तो और वे अपनी नाराज़गी को शब्दों में भी अभिव्यक्त करते हैं। अपने बच्चों के लिए साहसिक या रचनात्मक खेल मैदान बनाने वाले ब्रिटेनवासी यह भी समझते हैं कि ये मैदान ऐसी दीवारों से घिरे होने चाहिए जिसके अन्दर कोई न झाँक सके। ये दीवारें बच्चों को केवल निजता या स्वामित्व का भाव देने के लिए नहीं होतीं। बल्कि इसलिए भी होती हैं कि बच्चों को मस्ती करते देखने से वयस्कों में इतना आक्रोश जन्मता है कि उस खेल मैदान का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

हमारे स्कूलों में यह भय, तिरस्कार, यहाँ तक कि घृणा सबसे अधिक तीव्रता से प्रकट होती है। अब कई लोग यह जानते हैं कि *फॉर्च्यून* पत्रिका के वर्षों तक सम्पादक रहे डॉ. चार्ल्स सिल्वरमैन को कारनेगी फाउण्डेशन ने अमरीका के पब्लिक स्कूलों का विस्तृत अध्ययन करने की जिम्मेदारी सौंपी थी। उन्होंने और दूसरे कई शोधकर्ताओं ने इस अध्ययन में जो पाया वह *क्राइसिस इन द क्लासरूम* नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया गया। इसी पुस्तक में वे एक जगह लिखते हैं:

किसी भी पब्लिक स्कूल की कक्षा में एक अर्से तक लगातार समय बिताने के बाद यह असम्भव है कि आप हर ओर नज़र आने वाले विनाश से भयभीत हुए बिना रह सकें। सहजता, सीखने का आनन्द, रचने का सुख, अस्मिता का भाव, सब कुछ तो वहाँ भंग किया जाता है...। क्योंकि वयस्क स्कूलों के अस्तित्व को इस कदर मानकर चलते हैं कि उन्हें पता तक नहीं चलता कि अधिकांश अमरीकी स्कूल निष्ठुर और आनन्दहीन हैं (दूसरे देशों में भी कमोबेश यही स्थिति है)। जिन नियमों द्वारा ये स्कूल चलाए जाते हैं वे कितने दमनकारी व ओछे हैं। शालाओं के वातावरण में न तो बौद्धिक उत्तेजना है, न ही सौन्दर्यबोध। शिक्षक व प्रधानाध्यापक कितने शिष्टाचारहीन हैं और छात्रों के प्रति उनके मन में कितना तिरस्कार है।

कठोर शब्द हैं ये। यहाँ हमें ध्यान रखना चाहिए कि चार्ल्स सिल्वरमैन न तो राजनैतिक क्रान्तिकारी हैं, न “रूमानी” विचारों वाले व्यक्ति। वे बच्चों को लेकर भावावेग में भी नहीं बहते। उन्होंने जो कुछ देखा वह हर उस व्यक्ति को नज़र आएगा जो हमारी शालाओं का गहराई से अध्ययन करता है। उन्होंने यह भी सोचा था कि सम्भवतः हमारे स्कूल बेहतर बनने की कगार पर हैं। और सच में कुछ बेहतर स्कूल हैं भी। हम अखबारों में पढ़ते हैं कि कई स्कूलों में कुछ परिवर्तन लाए जा रहे हैं। ऐसे परिवर्तन जो मानवीय और रोचक हैं। दूसरी ओर कई स्कूल बड़े खराब भी हैं। हम ऐसे स्कूलों के बारे में अखबारों में नहीं पढ़ते

जैसे स्कूलों का उल्लेख डेनियल फेडर ने *द नेकेड चिल्ड्रन* में किया है। यहाँ सकारात्मक परिवर्तन लाए गए, जिन्हें बाद में छोड़ दिया गया। ज्यादातर स्कूलों में कुछ भी नहीं बदला है। यह सच है कि पाठ्यपुस्तकें और शिक्षण सामग्री नई है। कई स्थानों पर नए भवन भी बन गए हैं। परन्तु स्कूल की समग्र आत्मा जस की तस बनी रही है। इसलिए कि जनता चाहती भी यही है। इस विषय पर मेरे द्वारा देखी मतगणनाओं से पता चलता है कि लोग चाहते हैं कि स्कूल और भी कठोर, डरावने और सज़ा देने वाले बनें।

अर्थात् दीवारों से घिरा बाग कई बार कई लोगों के लिए बाहरी दुनिया से बेहतर नहीं बन जाता, बल्कि उससे खराब ही हो जाता है। यहाँ तक कि उससे भी अधिक स्पर्धा, तिरस्कार और क्रूरता से भरा।

“उन्हें अन्ततः वास्तविकता को जानना ही है। बाहरी दुनिया की सच्चाई से परिचित भी होना है। तो यह जितनी जल्दी हो सके हो जाना चाहिए।” यह कहना है बाग के रखवालों का। पर अगर हमारा सरोकार बच्चों को दुनिया के जोखिम से सुरक्षित रखने के बदले उन्हें सिखाने का है, तो फिर क्या उन्हें बाग से बाहर निकलने देने में समझदारी नहीं? जहाँ वे खुद ही देख व सीख सकें।

## 8. बाल्यावस्था का एक उपयोग

बच्चे और बाल्यावस्था की संस्था, एक भारी बोझ और एक बड़ा सिरदर्द होने के बावजूद, कुछ महत्वपूर्ण मायनों में उपयोगी भी हैं। यह सच है कि बच्चे अब परिवार के कामों में खास हाथ नहीं बँटा पाते हैं, न ही पारिवारिक आय में कोई योगदान देते हैं। फिर भी वे कुछ समय तक परिवार के वयस्कों को कुछ ऐसा देते हैं, जिसकी वयस्कों को बेहद ज़रूरत होती है। बच्चे वयस्कों को कुछ समय के लिए ही सही, एक ऐसा व्यक्ति उपलब्ध करवाते हैं जिस पर वे हुक्म चला सकें जिसकी वे “मदद” कर सकें और जिसे प्यार-दुलार दे सकें।

बच्चे यह बेहद महत्वपूर्ण कार्य एक लम्बे समय से करते आए हैं। उसी समय से जब से लोगों ने ऐसे समाजों का गठन किया जहाँ कुछ लोग दूसरों पर हुक्म चलाते थे। चाहे वह कितने ही निचले तबके का या सत्ताहीन क्यों न हो, प्रत्येक वयस्क माता या पिता के पास कम से कम एक ऐसा व्यक्ति उसकी सन्तति के रूप में उपलब्ध था जिस पर वह निःसंकोच हुक्म चला सके, जिसे धमका सके, जिसे सज़ा दे सके। कोई भी व्यक्ति इतना गरीब न था, गुलाम तक नहीं, जिसके पास चन्द अदद व्यक्तिगत गुलाम न हों। आज जब अधिकांश “आज़ाद” लोग स्वयं को गुलाम-सा ही महसूस करते हैं, ये घरेलू उपज के गुलाम बड़े सन्तोषजनक सिद्ध होते हैं। कई तो उनके बिना जी ही नहीं सकते।

अभी उस रोज़ मैंने भूमिगत रेलमार्ग में वह लघु-नाटिका देखी। विगत वर्षों में इसका मंचन मैं कई बार देख चुका हूँ। एक व्यक्ति अपने आठेक साल के बेटे के साथ हमारे डिब्बे में घुसा। बैठने की तमाम सीटें खाली थीं। पर उस व्यक्ति ने खड़े रहना पसन्द किया। लेकिन वह चाहता था कि लड़का बैठ जाए। बेटे को देखे बिना, यहाँ तक कि उसकी ओर रुख किए बगैर, उसने भावहीन स्वर में, धीमे से कहा, “बैठो!” हुक्म ठोकने के साथ उसने अपना एक हाथ नीचे की ओर झटका। मानो अपने कुत्ते को आदेश दे रहा हो। मैंने तो अपने कुत्तों से भी इस स्वर में बात करते कम ही लोगों को सुना है। लड़का तुरन्त बैठ गया। पिता के स्वर में और उसके हाथ के झटके में छिपे क्रोध और हिंसा से देखने वाला कोई भी अचेता नहीं रह सकता था।

बड़े होने के दौर में एक समय वह भी आता है जब बच्चे इस बात के प्रति सचेत हो जाते हैं कि अधिकांश समय उनके माता-पिता उनसे कुछ इस प्रकार बोलते

हैं जैसे वे दुनिया में किसी दूसरे से बोलने की जुर्रत तक नहीं कर सकते। इस पर हम वयस्कों का स्पष्टीकरण होता है - ऐसा हम बच्चों की भलाई के लिए ही करते हैं। यह हम सिर्फ इसलिए कर रहे हैं क्योंकि हम उनसे प्यार करते हैं। अपने से छोटों पर अपनी सत्ता व शक्ति का इस्तेमाल करते वक्त हम हर बार ठीक यही बात कहते हैं। “इस पिटाई का दर्द तुमसे अधिक मुझे होगा” - सज़ा देने वाले पिता का यह जुमला दुनिया का शायद सबसे पुराना झूठ है।

मेरी एक मित्र ने बताया कि उसने टी.वी. पर एक हास्य कार्यक्रम देखा। इसमें बच्चों के प्रति दर्शाए जाने वाले माता-पिता के ऐसे व्यवहार का मखौल उड़ाया गया था जो वे किसी वयस्क के साथ कभी न करें। नाटक में एक परिवार एक दम्पति को खाने पर आमंत्रित करता है। और मेहमानों से ठीक वैसे ही पेश आता है जैसे अपने बच्चों से। चकित मेहमानों से कहा जाता है, “मेरी पसन्दीदा कुर्सी से फौरन उठो! मैं दिनभर मेहनत करने के बाद घर लौटूँ तो क्या मुझे मेरी चहेती कुर्सी तक बैठने को नहीं मिलेगी?” और “खाने से पहले अपने हाथ धोने की बात कितनी बार कहनी पड़ेगी?” और ऐसी ही तमाम दूसरी बातें जो हम रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में अपने बच्चों से कहते हैं।

घरों को अक्सर ऐसी जगह के रूप में वर्णित किया जाता है जहाँ हम दूसरी जगहों से अधिक स्नेह और प्रेम करने को आज़ाद हैं। और ऐसा करने की हिम्मत कर सकते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि कम से कम हमारे बच्चों के लिए तो घर एक ऐसा स्थान बन जाता है जहाँ हम उन पर किसी दूसरे स्थान की तुलना में अधिक कठोरता, निर्दयता, तिरस्कार और अपमान उड़ेलते हैं। और यँ बच्चों का यह तथाकथित आश्रयस्थल एक ऐसी खतरनाक जगह में तब्दील हो जाता है जहाँ उन्हें तमाम कठिनाइयाँ झेलनी पड़ती हैं। और यह सब उन लोगों से मिलता है जिनके सहयोग और सुरक्षा पर बच्चे सबसे अधिक निर्भर हैं।

## 9. “मदद” और “मददगार”

लगभग साल भर पहले मुझे किसी ने सहायकों और सहायता के बारे में एक भारी सच बताया - “मददगार हाथों का फिर से हमला!”

पहले पहल इसे सुनकर कई लोग चौंककर हँस पड़ते हैं। फिर ठिठककर पीछे हटते हुए कहते हैं, रुको ज़रा, एक पल के लिए। दरअसल देखा जाए तो जिन्हें मदद चाहिए उनकी मदद करने के विचार में कोई बुराई भी नहीं है। गड्डे में गिरे यात्री की मदद करने वाला परोपकारी जन हमारी संस्कृति का एक महानायक है। हमें ऐसे ही लोगों की ज़रूरत है। और ऐसा मानने के बड़े वाजिब कारण भी हैं। यात्री के ठीक और स्वस्थ हो जाने पर परोपकारी जन ने उसे जाने दिया। उसने यात्री से यह नहीं कहा कि यात्रा खतरनाक है, या यह कि यात्री अपनी देखभाल स्वयं नहीं कर सकेगा। उसने स्वयं को यात्री का स्थाई संरक्षक नहीं बना डाला। न ही उसने सभी यात्रियों के संरक्षण को अपना पेशा बना दिया। उसने सहायता की क्योंकि उसकी नज़रों के सामने एक ऐसा व्यक्ति था जिसे उस पल सहायता की ज़रूरत थी। अन्यथा उसके पास दूसरे ढेरों काम थे।

यह समझना ज़रूरी है कि सहायता देने का यह नेक विचार किस प्रकार इतना विकृत हो गया है और एक विनाशकारी शोषण में बदल गया है, मदद का यह नितान्त मानवीय कृत्य एक वस्तु, एक उद्योग और एक एकाधिकार में कैसे बदल गया है। मुझे यह सोचकर ही उलझन होती है कि कोई व्यक्ति बिना किसी दूसरे के अनुरोध या आमंत्रण के इसे अपने जीवन का काम बना डालता है और ताउम्र उसका सहायक या संरक्षक बन जाता है। स्वयं को दूसरों के सहायक के रूप में परिभाषित करने वाले को एक समस्या आती है। समस्या यह है कि अगर उसने सावधानी नहीं बरती हो तो वह मदद पाने वालों को ऐसे लोगों के रूप में परिभाषित करेगा जो उसकी मदद के बिना काम चला ही नहीं सकते। सम्भव है वह उन्हें यह कहे भी, या यह जताने की भारी कोशिश करे, या फिर बिना कुछ कहे ही यह मानता रहे। सम्भव यह भी है कि वह जानता ही न हो कि उसके मन में यह विचार है। स्थिति कोई भी हो पर परिणाम एक समान होगा। वह जिनकी मदद करता है, उनके साथ उसके

व्यवहार से और अपने काम के बारे में उसके द्वारा कही (या कहने से बची) बातों से मदद पाने वालों को यह विश्वास हो जाता है कि वे लोग दरअसल उसकी सहायता पर निर्भर हैं।

जिस के जीवन का मुख्य काम दूसरों की सहायता करना है, उसे ऐसे लोगों की ज़रूरत होती है जिन्हें हमेशा उसकी मदद की ज़रूरत हो। अर्थात् सहायक दूसरों की निरूपायता पर निर्भर है। इसी निरूपायता के कारण वह फलता-फूलता है। वह अपने लिए ज़रूरी इस निरूपायता को पैदा करता है। शिक्षण, मनोचिकित्सा, मनोविज्ञान, सामाजिक कार्य जैसे सहायता करने वाले पेशों की एक दिक्कत है। ये पेशे ऐसे लोगों को आकर्षित करते हैं जो खुदा बनने की इच्छा रखते हैं। ऐसे कुछ (या शायद ज्यादातर) लोग एक दयालु व परोपकारी खुदा की भूमिका अदा करना चाहते हैं। पर कुछ दूसरे शायद अनजाने ही एक कठोर व क्रूर खुदा की भूमिका चाहते हैं। ताकि वे दूसरों की चमड़ी पर वह भड़ास निकाल सकें जो पहले के किसी खुदा ने उनकी चमड़ी पर निकाली थी। दोनों ही स्थितियों में नतीजा एक ही रहता है। क्योंकि कोई व्यक्ति खुदा तब ही, बन सकता है जब वह दूसरों को अपनी कठपुतलियों में बदल डाले। और जैसा पूर्ववर्ती ईसाई बखूबी समझते थे, किसी खुदा को शैतान में परिवर्तित होने में अधिक कुण्ठा की ज़रूरत भी नहीं होती।

हम पाते हैं कि यह चक्र अपने आप को बार-बार दोहराता है। सहायक शुरुआत में किसी से कहता है, “चलो, मुझे तुम्हारे लिए यह करने दो। मैं इस बारे में ज़्यादा जानता हूँ, सो तुमसे बेहतर तरीके से इस काम को कर सकता हूँ।” कुछ समय बाद सहायक कहता है, “यह मत करो। तुम इसे ठीक से कर नहीं पाओगे।” पर इसके बाद जल्दी ही कहता है, “मैं तुम्हें यह करने की कोशिश तक नहीं करने दूँगा, क्योंकि तुम गलती करोगे, खुद को या किसी दूसरे को चोट पहुँचा दोगे।” इस मदद को लेने से मना करने का पहले पहल मतलब होता है कृतघ्नता या बेवकूफी भरी भूल। जल्द ही यह एक पाप और एक अपराध में बदल जाती है।

कोई भी व्यक्ति असल में इतना असहाय या पूर्ण रूप से इतना पीड़ित नहीं होता जितना वह व्यक्ति होता है जो अपने संरक्षकों का न तो स्वयं चयन कर सके, न उन्हें बदल सके या उनसे बचकर भाग सके। उदाहरण के लिए यहाँ एक “संरक्षण” संस्था में जीवन का वर्णन प्रस्तुत है। यह मन्दबुद्धि बच्चों के लिए “घर” है जिसे न्यू यॉर्क राज्य चलाता है। रॉबिन रीसिंग ने 28 दिसम्बर 1972 में *विलेज वॉयस* (न्यू यॉर्क सिटी) में एक आलेख लिखा था - “एनदर अनहैपी इयर एट विलोब्रुक”। उसका कुछ अंश उद्धृत है:

साल भर पहले क्रिसमस पर डेविड (संस्था के एक मन्दबुद्धि बच्चे)

का मुँह, कान, छाती व कलाई जल गए थे। इस साल क्रिसमस पर वह पलटकर एक ऐसे वर्ष को देख रहा है जिसमें उसकी नाक टूटी (फ्रैक्चर के पूरे दो दिन बाद ही उसका एक्स-रे किया गया), एक उँगुली टूटी और कम से कम छह बार सिर पर ऐसी गहरी चोटें आईं कि उन पर टाँके लगाने पड़े। जब डेविड दस साल का हुआ तो यह विमन्दित बालक स्वयं पाखाने जाना व पेशाब करना सीख चुका था, शिष्टता से खाना खाता था और माता-पिता से खुशी-खुशी बातें करता था। उसकी माँ ने बताया कि विलोब्रुक में दो वर्ष बिताने के बाद “वह अपना बिस्तर गन्दा कर देता है। मैं बता नहीं सकती कि वह कैसे खाता है। मुझे उसके पास बैठने तक से नफरत होने लगी है।” और “वह खुद से ही बातचीत करता है।”

पिछले सप्ताह...ज़िला न्यायाधीश ऑरिन जड के सम्मुख...एक पिता ने बताया कि जब वे एक सप्ताह अपने बेटे से मिलने गए तो उन्होंने पाया कि उसका चेहरा सूजा हुआ था और एक आँख बन्द थी। उन्होंने डॉक्टर से जाँच करवाने की माँग की। दूसरे सप्ताह फिर यही अनुरोध दोहराया और अन्ततः पत्र लिखा कि बेटे की जाँच करवाई जाए। अन्ततः चिकित्सक ने स्टीवी को जाँचा और आँख का ऑपरेशन किया। फिर पिता को बताया, “बहुत देर हो चुकी है।” स्टीवी की एक आँख जा चुकी थी।

एक माता ने अपनी बेटी के, एक के बाद एक, तमाम फोटो दिखाए। इनमें उसके माथे पर कटने, छिलने के निशान थे। आँखें चोट से काली थीं। होंठ सूजे हुए थे। एक अन्य माँ ने बताया कि उसकी बेटी को एकान्त में (एकल कारावास - यह प्रथा पंजीकृत करने वाली संस्था के नियमों के विरुद्ध है) सप्ताह दर सप्ताह, केवल पजामा-कुरते में, “पत्थर के ठण्डे फर्श पर” रखा गया। जब तक उसे निमोनिया न हो गया।

आवासियों के कुछ चित्रों में चाभियों के आकार वाले चोटों के निशान थे। विलोब्रुक में चिकित्सक के रूप में काम करने वाले बिल ब्रॉनस्टन ने बयान दिया कि उन्होंने आवासियों के शरीर पर चाभी के आकार के चोटों के निशान पाए। आवासियों के पास चाभियाँ नहीं होतीं। वे केवल कार्मिकों के पास ही रहती हैं...।

अपने पर लगे आरोपों के जवाब में राज्य ने कहा कि विलोब्रुक की स्थितियों का महकमा केन्द्रीय न्यायालय का नहीं है। और वहाँ उत्पन्न स्थितियाँ “कूर व असामान्य सज़ा” नहीं कही जा सकतीं

क्योंकि वहाँ आवासी स्वेच्छा से भेजे गए थे। [वाक्यांश पर जोर देने के लिए इटैलिक्स का उपयोग मेरे द्वारा किया गया है - होल्ट]

आलेख में ऐसे सवाल उठाए गए जो अनुत्तरित रहे। मन्दबुद्धि बच्चों की ऐसी भी निजी संस्थाएँ हैं जहाँ उनसे दुर्व्यवहार नहीं होता। उनकी अच्छी देखभाल होती है। मैं कुछ लोगों को जानता हूँ जिनके बच्चे उनमें दाखिल हैं। पर ये काफी महँगी सुविधाएँ हैं। जाहिर है कि विलोब्रुक करों द्वारा चलाई जाने वाली अन्य सरकारी संस्थाओं की तरह है। ऐसे लोगों के बच्चों के लिए है जो पैसे वाले नहीं हैं। विचारणीय है कि अपने बच्चों के साथ किए जा रहे निष्ठुर दुर्व्यवहार के बावजूद ये लोग उन्हें ऐसी संस्थाओं से निकाल क्यों नहीं लेते। इस सवाल का जवाब सम्भवतः प्रत्येक परिवार के लिए भिन्न-भिन्न होगा। कई दृष्टान्तों में बच्चे को विशेष देखभाल दरकार होती है। दोनों के काम पर जाने की मजबूरी के कारण माता-पिता इसे नहीं दे पाते हैं। या फिर वे अपने “मन्दबुद्धि” बच्चों को सरकारी अनुदान पर निर्भर विलोब्रुक में इसलिए भेजते हैं क्योंकि बच्चों को वयस्कों के रास्ते में अटकने से रोकने की दूसरी संस्थाएँ अर्थात् स्कूल उन्हें दाखिल करने को तैयार ही नहीं होते। या सम्भवतः इसलिए क्योंकि किसी विशेषज्ञ ने उन्हें इस बात का विश्वास दिला दिया है कि विशिष्ट संस्थागत देखभाल ही उनके बच्चे के लिए सबसे अच्छा उपाय है। या इसलिए क्योंकि एक मन्दबुद्धि बच्चे को घर में रखने की शर्म और उसका तनाव उनसे सहा नहीं जाता, या वे सहना नहीं चाहते। बहरहाल कारण कुछ भी रहा हो वे सरकारी संस्था में बच्चे को दाखिल करने का निर्णय तकलीफदेह चिन्तन-मनन के बाद ही लेते हैं। उन्हें यह भी लगता है कि उनके पास दूसरा कोई विकल्प है ही नहीं। अतः उनकी कोशिश रहती है कि वे इन सरकारी संस्थाओं पर बच्चों के साथ उचित व्यवहार करने का दबाव डालते रहें। चूँकि सरकार वोटों से चलती है और बेहतर संस्थागत देखभाल के मुद्दे (जिसमें पैसा खर्च होता है) वोट से इतने जुड़े नहीं हैं, इसलिए लोगों के पास दूसरे विकल्प भी नहीं हैं।

जो लोग अपने संरक्षकों से बचकर भाग नहीं सकते उनका क्या हश्र होता है, यह देखने के लिए हमें केवल मन्दबुद्धि बच्चों की ओर नज़र डालने की ज़रूरत नहीं है। कुछ समय पहले मैंने एक महिला की कथा सुनी थी जिसकी माँ एक लम्बी व लाइलाज (पर अनन्त समय तक दवाओं के सहारे जीवन को टिकाने वाली) बीमारी से ग्रसित थी। उसने अपनी माँ को एक अस्पताल में दाखिल करवाया था और उनकी देखभाल के लिए वह शुल्क देती थी। बीमार और मृत्यु के निकट इस वृद्धा की भूख मर चुकी थी और वह अस्पताल द्वारा उपलब्ध करवाया जा रहा भोजन खा नहीं पाती थी। अस्पतालकर्मियों ने वृद्धा से कहा



कि उसे भोजन खाना ही होगा। जबकि वे बखूबी समझते थे कि वह कभी भी स्वस्थ होकर घर नहीं लौटेगी। उन्होंने नाक में लगी नलकी द्वारा वृद्धा को जबरन आहार देना प्रारम्भ किया। अपनी सुविधा के लिए वे नलकी को हमेशा नाक में लगे रहने देते थे। यह बात न केवल वृद्धा की गरिमा के विरुद्ध थी बल्कि उसके लिए कष्टदायक भी थी। जब भी सम्भव होता बीमार वृद्धा नलकी निकाल डालती। इससे नर्सों का काम बढ़ता था क्योंकि उन्हें हर बार आहार देते समय नलकी वापस डालनी पड़ती थी। यह सब उस वृद्धा के लिए किया जा रहा था जिसकी स्थिति को अगर “जीना” कहा भी जाए तो इसे कायम रखने में उनकी कोई रुचि नहीं थी। अस्पतालकर्मियों ने अपनी तरफ से समस्या का समाधान खोज निकाला था। उन्होंने वृद्धा के हाथ बिस्तर से बाँध दिए। हमेशा के लिए! अपने जीवन के अन्तिम माह वृद्धा ने हर उस व्यक्ति के सामने गिड़गिड़ाते हुए बिताए जो उसकी बात सुनता कि उसके हाथ खोल दिए जाएँ। हम केवल यही प्रार्थना कर सकते हैं कि ईश्वर हमें ऐसे सहायकों और संरक्षकों से बचाए।

कुछ लोगों का कहना है कि यह आलोचना सामान्य रूप से सभी सहायक संस्थाओं के सन्दर्भ में नहीं की जा सकती। बल्कि यह केवल कुछ ही अमरीकी संस्थाओं के बारे में सच है। दूसरे देशों की सहायक संस्थाओं में असहाय लोगों को ऐसा निष्ठुर और क्रूर व्यवहार नहीं मिलता। वहाँ लोगों की सच में मदद की जाती है। उन्हें नुकसान नहीं पहुँचाया जाता। सम्भव है कि यह सच हो। रिपोर्टों को पढ़ने से यही लगता है कि कुछ यूरोपीय देशों में सामाजिक करुणा और सामाजिक न्याय की भावना हमसे कहीं अधिक है। शायद इसलिए कि वे छोटे देश हैं, अधिक एकरूप हैं और अधिक पुराने हैं। हो सकता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान नात्सियों ने जो कहर ढाया उसे सबने झेला। इससे वे अपनी साझी अस्मिता और सरोकार के सूत्र में बँधे और स्वयं को एक ही परिवार (परिवार के श्रेष्ठतम अर्थ में) का सदस्य मानने लगे। परन्तु ऐसी भावना भी बड़ी नाजुक होती है। समय, लोभ और सामाजिक दबावों के सामने यह क्षीण पड़ जाती है।

अगर कभी भविष्य का दुःस्वप्न सच हो जाए तो वह होगा “व्यावसायिक सहायकों” (प्रोफेशनल हैल्पर्स) का आतंक। और लगता है कि वह समय आ ही रहा है जब ऐसे सहायकों के पास असीमित अधिकार और शक्तियाँ होंगी। और वे हम पर वह सब करेंगे या हमसे वह सब करवाएँगे जो वे (या कोई और) हमारे लिए सबसे अच्छा समझते होंगे। इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है कि रूस का पुलिस राज्य उन लोगों को “मानसिक चिकित्सालयों” में भेज देता है जो सरकारी कार्यप्रणाली का कड़ा और सार्वजनिक विरोध करते हैं। उनका तब तक

“इलाज” किया जाता है जब तक वे अपेक्षित व्यवहार न करने लगें। आश्चर्य इस बात में भी नहीं कि हमारे सूक्ष्म पुलिस राज्यों में, अर्थात् हमारे स्कूलों में, उन बच्चों पर रिटालिन जैसी कड़ी दवाओं का उपयोग अधिकाधिक होने लगा है जो स्कूली अनुशासनात्मक व्यवस्था में आसानी से फिट नहीं बैठते। मनोसक्रिय व खतरनाक दवाओं की अनिवार्यता की यह स्थिति रूसी पुलिस राज्य से भला कितनी दूर है? यह हम साफ-साफ समझ लें कि ऐसी दवाओं का इस्तेमाल अनिवार्यतः हो रहा है और वे वाकई खतरनाक दवाएँ हैं। ऐसे में वह दिन भी कितना दूर है जब बच्चों के मस्तिष्क में सूक्ष्म इलेक्ट्रॉड लगा दिए जाएँ जो सम्भवतः शिक्षिका या शिक्षक की मेज़ पर रखे ट्रांसमीटर से जुड़े हों, ताकि ज़रूरत पड़ने पर नन्हे विली को वे तत्काल ही सकारात्मक या नकारात्मक (अर्थात् दर्दनाक) प्रबलन (झटका) दे सकें। वैज्ञानिक इन सब पर काम कर रहे हैं।

इतिहास में जिन लोगों ने दूसरों पर बल प्रयोग किया है, उन्हें धमकियाँ दी हैं या नुकसान पहुँचाया है, उनमें कम ही इतने ईमानदार रहे हैं जिन्होंने वाकई यह देखा या कहा होगा, “मैं तुम पर यह कर रहा हूँ, या तुम्हें फलौं-फलौं करने को बाध्य कर रहा हूँ, तुम्हारी भलाई के लिए नहीं, अपने फायदे के लिए।” शेष तो सामान्यतः पूरी निष्ठा के साथ हमेशा दावा करते रहे हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसके उद्देश्य महान हैं। मध्ययुग में ईसाई धर्मपरीक्षक भी जब चीखते-चिल्लाते लोगों को खींचतान कर जलाते थे, तब वे भी यही मानते थे कि दरअसल वे इन लोगों को नारकीय ज्वाला से बचा रहे हैं। उदात्त उद्देश्य के चलते उन्हें वर्तमान इहलौकिक कष्ट का औचित्य स्वतः ही मिल जाता था। जहाँ कहीं भी उत्पीड़क काम करते हैं वे हमेशा किन्हीं ऊँचे आदर्शों के नाम पर ही उत्पीड़न करते हैं।

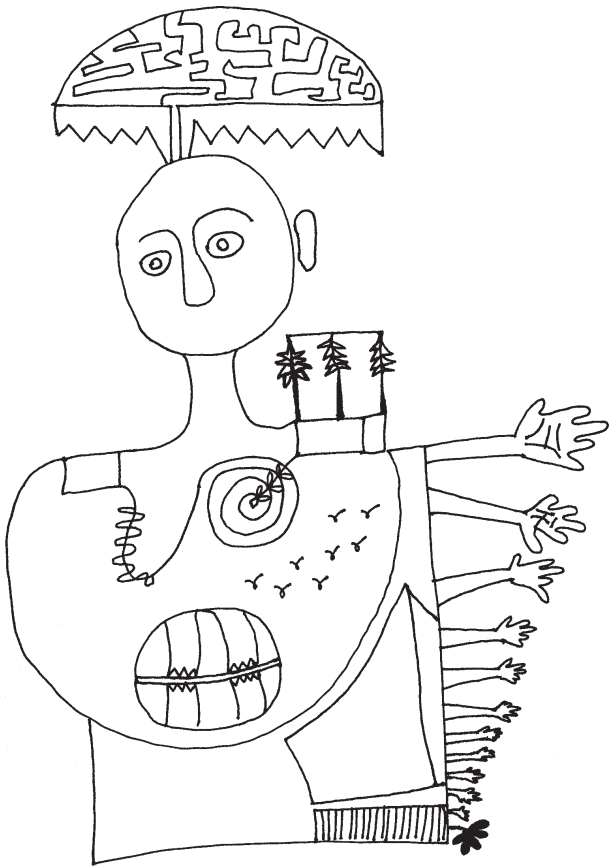
जब भी कोई हमसे कहे कि “मैं यह तुम्हारी मदद के लिए कर रहा हूँ” तो हम विश्वास नहीं कर सकते कि जो कुछ वह व्यक्ति कर रहा है वह वास्तव में अच्छा ही होगा। वह जो करता है वह बहुत बुरा भी हो सकता है। नेकनीयत अपने आप में उसके कृत्य को न तो माफ कर सकती है, और न ही उसका औचित्य सिद्ध कर सकती है। सहायता के किसी भी कृत्य को उसी के आधार पर जाँचना होगा। यह प्रमाणित करने की ज़िम्मेदारी भी सहायक की ही होगी कि उसके द्वारा की जा रही मदद वास्तविक अर्थ में मदद ही है।

पर सिर्फ इतना ही काफी नहीं है। हमारे पास यह सुनिश्चित करने का भी कोई उपाय नहीं है कि अनिवार्य सहायक हमेशा ही दयालु, कुशल और निःस्वार्थ होगा। या उसकी मदद से सच में व्यक्ति को राहत मिलेगी और वह मदद आगे चलकर शोषण, आधिपत्य या यंत्रणा में नहीं बदल जाएगी। ऐसी स्थितियों से

बचने का एकमात्र रास्ता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वयं तय करने का अधिकार दिया जाए कि उसे मदद चाहिए या नहीं, कब मदद चाहिए, किससे चाहिए, कितने समय के लिए चाहिए और किस तरह की चाहिए।

ज़ाहिर है कि हरेक सहायक सम्भावित तानाशाह नहीं होता - पर यह सम्भावना ही उन्हें खतरनाक बनाती है। अक्सर सहायक वे ही व्यक्ति होते हैं जिन्हें यह डर सताता रहता है कि दूसरे लोग गलतियाँ करेंगे। पर वे बोलते कुछ यूँ हैं मानो वे पर्याप्त विशेष ज्ञान के सहारे ऐसे रास्ते तलाश लेंगे जिससे लोगों को गलतियाँ करने से बचाया जा सकेगा। वे यह मानकर चलते हैं कि अगर हमारे पास ऐसी शक्ति है तो हमें उसके उपयोग का अधिकार भी है। बल्कि यूँ कहें कि उसका उपयोग हमारा फर्ज़ ही है। बैठकों में अक्सर वे मुझ पर आक्षेप लगाते हैं कि मैं मानता हूँ कि अगर “मदद” न की जाए तो कोई कभी गलती ही न करे या यह कि गलतियाँ होती हैं या नहीं इस बात से मेरा कोई सरोकार ही नहीं है। ये दोनों ही आरोप सच नहीं हैं। ज़्यादातर लोग अपनी जीवनयात्रा में कई-कई गलतियाँ करेंगे ही। मैं इस बात को पूरी शिद्दत से कहता हूँ कि उन्हें गलतियाँ करने का अधिकार है। मेरा विश्वास है कि अगर लोग सच में चयन कर सकें और उनके सामने विकल्प हों तो वे अपने जीवन को दूसरों से कहीं बेहतर तरीके से संचालित कर सकते हैं। उन दूसरों से जो चाहे कितने ही बड़े विशेषज्ञ क्यों न हों। और अगर व्यक्ति गलतियाँ करे और फिर उसमें कैद होकर न रह जाए, तो वह दूसरों से पहले उन भूलों को पहचानने लगेगा और अपने तौर-तरीके बदल लेगा।

हमें यह अहसास करना होगा कि दूसरे व्यक्ति के जीवन पर हमारी शक्ति बेहद सीमित होती है। पर जिन्हें हम सच में प्यार करते हैं, उनके सन्दर्भ में यह बात समझ पाना बड़ा कठिन होता है। और अगर हम इस सँकरी सीमा को लांघकर अपना नियंत्रण बढ़ाते हैं तो हम उससे स्वयं के जीवन को नियंत्रित करने की ताकत ही छीन लेते हैं। किसी को उसकी गलतियों से पूरी तरह संरक्षित करने का और जीवन की अनिश्चितताओं से पूरी तरह बचाने का एकमात्र रास्ता है उसे गुलाम बना डालना। पर ध्यान रहे कि तब वह *हमारी* मनमर्ज़ी, *हमारी* कमज़ोरियों के समक्ष भी पूरी तरह निरुपाय हो जाएगा। ज़्यादातर लोग अपनी दुनिया में आए मौकों को खुद आजमाना चाहेंगे। और उन्हें चुनाव का यह अधिकार है।



## 10. बच्चों की क्षमताएँ

कुछ समय पहले बॉस्टन लौटने के लिए मैं हवाई अड्डे पर था। मैंने अपने से कुछ आगे एक माँ-बेटे को भी उसी दिशा में बढ़ते देखा जिस ओर मैं बढ़ रहा था। बच्चा पीले रंग का एक फूला-सा स्नोसूट पहने था। उसके आकार और चालढाल से उसकी उम्र कोई डेढ़-दो साल की लग रही थी। माँ उसका हाथ थामे थी और वह ढिठाई से हाथ छुड़ाने की निरर्थक कोशिश कर रहा था। वह अपनी कलाई घुमाकर और कन्धे उचकाकर माँ की गिरफ्त से छूटने की कोशिश कर रहा था। ज़ाहिर था कि वह स्वयं अपने बलबूते पर उस दूरी को तय करना चाहता था।

सम्भव है उसकी माँ महज़ आदतन ही उसका हाथ थामे रही हो। मैंने सोचा कि अगर मैं माँ के दिमाग में यह विचार डाल दूँ कि “क्यों न मैं बेटे का हाथ छोड़ दूँ। ज़ाहिर है वह यही चाहता है। उसे खुद-ब-खुद क्यों न चलने दूँ?” शायद तब वह इसे आजमाए। पर माँ की गिरफ्त की मज़बूती से लग रहा था कि वह शायद यही सोचती या कहती कि “मैं बच्चे का हाथ कैसे छोड़ सकती हूँ। वह तो अभी दो साल का भी नहीं है। अगर मैं उसे छोड़ती हूँ, तो वह शायद भागेगा। किसी से टकराकर गिरेगा। परेशानी में फँसेगा या चोट खा लेगा। ज़रूर कोई पागलपन या बेवकूफी भरी खतरनाक हरकत करेगा। मैं ऐसा करने की हिम्मत ही नहीं कर सकती।” सच है कि इनमें से कुछ हो भी सकता था। पर इसकी सम्भावना कम ही थी। सम्भव है बच्चा उस कतार में दूसरे लोगों की ही तरह, सिर्फ अपनी माँ के पास-पास चलना चाहता हो। यह आजमाकर देखना आसान था कि बच्चे की मंशा क्या है। अगर बच्चा दूर जाने लगता तो माँ दो-चार डगों में उस तक पहुँच भी जाती। निश्चय ही यह एक छोटी-सी ही बात थी। पर बच्चे को स्वतंत्र होने का, भरोसेमन्द महसूस करवाने का, दूसरों की तरह ऐसा कुछ करने देने का जो वे सब कर रहे थे एक मौका खो दिया गया।

एक दूसरे हवाई अड्डे पर, एक अन्य समय फिर मैंने एक अभिभावक व उसके बच्चे को देखा। इस बार एक पिता और उसका लगभग उतना ही बड़ा बच्चा था। बच्चा घूम-घामकर जगह देखना चाहता था। वह पिता समझदार और दयालु रहा होगा। उसने बच्चे को ऐसा करने दिया। बच्चा प्रतीक्षालय और

उसके गलियारे में घूमने लगा। पिता उसके पीछे चल दिया। पर उसने इतनी दूरी बनाए रखी कि बच्चे को यह न लगे कि उसका पीछा किया जा रहा है या उसे धर-पकड़ने की तैयारी है (अमूमन ठीक इसी कारण छोटे बच्चे भागना चाहते लगते हैं)। पर पिता इतनी ही दूर था कि अगर बच्चा किसी खतरनाक चीज़ के पास पहुँचता तो वह उसे किसी दुर्घटना से पहले बचा सकता था। और पिता इतने पास ज़रूर था कि अपनी छानबीन के दौरान अगर बच्चा अचानक यह सोचता कि “डैडी भला कहाँ है?” और आसपास नज़र दौड़ाता तो उसे पिता का परिचित चेहरा झट से दिख जाता। यह निगहबानी बेहद सलीकेदार और संवेदनशील थी। वह बच्चा अपनी मौज में इधर-उधर घूमता रहा जब तक कि थक न गया और उसे विश्राम की इच्छा न होने लगी। इस पूरे दौरान बच्चा बहुत दूर तक गया भी नहीं था। क्योंकि छोटे बच्चे साहसी होने के साथ-साथ कुछ भीरु भी होते हैं।

सामान लेते समय भी ऐसा ही एक दृश्य नज़र आया। एक नौजवान माँ अपने दो बच्चों के साथ थी। लगभग छह-सात साल का लड़का और करीब चार-पाँच साल की लड़की। कन्वेयर बेल्ट (एक स्वचालित पट्टी जिस पर कतार में रखा सामान धीरे-धीरे घूमता रहता है। सामने आने पर यात्री अपना सामान उठा सकते हैं।) घूमने लगा था, यद्यपि सामान उस पर अब तक नहीं था। बच्चों को इसने आकर्षित किया। वे पास आए और दीवार में बने उस छेद को देखने लगे जिससे सामान निकलने वाला था। उनकी जिज्ञासा और आतुरता से लगा कि उन्होंने ऐसा कुछ पहले नहीं देखा होगा। वे वहाँ पहुँचे भी न थे कि माँ की चिढ़ी-सी आवाज़ सुनाई दी, “अरे, दूर रहना, उसे छूना मत, खबरदार!” बच्चों ने उसे छूने की कोशिश भी नहीं की थी। वे तो बस देखना चाहते थे। छेद में से निकलते बैग को निहारना चाहते थे। पर सामान लेने वाले यात्रियों की तरह अगर वे आगे न बढ़ते तो उन्हें कुछ नज़र भी नहीं आता। उनकी जिज्ञासा इतनी गहरी थी कि वे आगे बढ़ते रहे। बड़े लोगों के बीच से झाँककर उस उत्तेजक रहस्य को देखने की कोशिश में जुटे रहे। उनकी माँ बीच-बीच में कुढ़ी-सी आवाज़ में उन्हें हाँक लगाती रही। उन्हें पीछे हटने का, कुछ न छूने का (जो वे कर भी नहीं रहे थे), माँ के पास लौट आने का (जहाँ से उन्हें कुछ भी नज़र न आता) आदेश देती रही। यह गुपचुप-सी तनातनी तब तक चलती रही जब तक मेरा सामान न आ गया, और मैं उसे ले खिसक नहीं लिया।

मैं यह कहानी माँ पर दोषारोपण के लिए नहीं सुना रहा। सम्भव है वह कई तरह की दुश्चिन्ताओं के दबाव में रही हो। हो सकता है कि बच्चों ने कुछ पहले उसे अपनी हरकतों से बड़ा सताया हो, या वे किसी उलझन या खतरे में फँसते-फँसते बचे हों। पर बात यही है कि वयस्कों की दुश्चिन्ताएँ बच्चों पर क्या असर

डालती हैं? ये दुश्चिन्ताएँ बच्चों को उनके स्वयं के बारे में, उनके आसपास की दुनिया के बारे में, उनसे निपटने की बच्चों की क्षमता के बारे में क्या कहती हैं? साफ है हमारी दुश्चिन्ता बच्चों को कहती है कि 1. दुनिया बड़ी खतरनाक और दगाबाज़ है। इसके बारे में पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता। 2. तुम इस दुनिया की परिस्थितियों से निपटने के काबिल नहीं हो। इसलिए तुम्हें हर तरह की उलझनों से बचाने के लिए मुझ पर पूरी तरह निर्भर रहना चाहिए।

शायद किसी दिन यह चिन्तित माँ, जो आज अपने बच्चों की जिज्ञासा को दबाने को इतनी आतुर है, उनकी पढ़ाई, स्कूल और शिक्षा-दीक्षा को लेकर भी फिक्र करेगी। वह सोचेगी कि उन्हें “कैसे उत्प्रेरित किया जाए”, “उनमें जानने-सीखने की ललक कैसे जगाई जाए।” शायद वह किसी दिन उन वयस्कों से जा मिलेगी जो निराश हो कहते हैं, “मेरा बच्चा तो किसी भी चीज़ में रुचि लेता नहीं नज़र आता।” और शायद उस वक्त तक यह बात वास्तव में सच हो चुकी होगी। हालाँकि सम्भव यह भी है कि उसके बच्चे यह सीख चुके हों कि अगर किसी चीज़ को लेकर रुचि जगे, तो माँ से उसे छुपा लेना ही बेहतर है। सालों-साल बच्चों की जिज्ञासा पर घड़ों पानी उलीचने के, उसे नकारने की हर सम्भव कोशिश करने के बाद, उन्हें यह सिखाने के बाद कि जिज्ञासा को शंका या भय की नज़र से देखना चाहिए क्योंकि वह उन्हें किसी न किसी परेशानी में ही फँसाएगी, हम यह उम्मीद भी भला कैसे करते हैं कि वे बच्चे बाद में उत्साही और दक्ष शिक्षार्थी बनेंगे?

बाद में, अपनी एक व्याख्यान-यात्रा के दौरान मैं एक बुद्धिमान और कुशल महिला से मिला जो मुझे एक से दूसरी बैठक में ले जाने वाले वाहन की चालक थी। बातचीत के दौरान उसने अपनी नौ वर्षीय बिटिया के बारे में बताया जो खाना पकाना सीख चुकी थी और तरह-तरह की चीज़ें बनाती थी। वह तब तक कोई नई चीज़ नहीं खाती थी जब तक खुद उसे पका न ले। माँ ने उसके पाक-कौशल का कुछ बखान किया। फिर उसने जोड़ा, “पर हर बार जब वह कुछ पकाना शुरू करती है, मुझे डर लगता है कि कहीं वह जल न जाए। खुद को चोट न पहुँचा ले।” मैंने सोचा, हालाँकि कहा नहीं, कि “आपकी बेटी को खुद को बिना जलाए, कब तक खाना पकाना होगा ताकि आपको विश्वास हो सके वह खुद को जलाए बिना वास्तव में खाना पका सकती है? आपका विश्वास अर्जित करने के लिए उसे भला क्या करना होगा?”

हम बच्चों की क्षमताओं और क्षमतावान बनने की इच्छा दोनों को इस कदर और इतनी निरन्तरता के साथ कमतर आँकते हैं। कुछ साल पहले *एस्कवायर* नामक पत्रिका ने एक पूरा अंक उन बच्चों पर निकाला था जिन्हें उसने “माइक्रो बॉपर” का नाम दिया था। यह संज्ञा उन बच्चों को दी गई थी जो “टीनी बॉपर”

(अर्थात् तेरह से उन्नीस साल के किशोर) से कम आयु के थे। इसमें बारह वर्ष से कम उम्र के बच्चों की कुशलता और क्षमताओं पर कई आलेख थे। एक आलेख में एक रेडियो स्टेशन का ज़िक्र था जिसका पूरा कामकाज बारह साल से कम उम्र के लोग सँभालते थे। यह एक स्थानीय स्कूल से जुड़ा था। उसका नियम यह था कि बारह वर्ष की सीमा पार कर लेने वाला बच्चा अपने से कम उम्र के लड़के-लड़कियों के लिए जगह बनाने के लिए हट जाता था। लेख के अनुसार इन बच्चों ने कई तरह की काफी स्तरीय कार्यक्रम सामग्रियाँ तैयार की थीं।

बच्चों और किशोरों को प्रशिक्षित करने का एक हिस्सा उन्हें बताने का होता है। पर एक ज़्यादा बड़ा हिस्सा इस बात का होता है कि हमारा उनके प्रति व्यवहार उन्हें खुद को गैर-ज़िम्मेदार, अकुशल, अज्ञानी, बेवकूफ और निकम्मा महसूस कराता है या नहीं। बाल्यावस्था क्या है, वह क्या करती है, और वह किसलिए है इसका सीधा सरोकार उपरोक्त व्यवहार से है। जिस समाज में बच्चों को लेकर ऐसी धारणाएँ प्रचलित न हों, वहाँ बच्चे व किशोर स्वयं को ऐसा नहीं मानेंगे।

एक मर्तबा न्यू यॉर्क नगर के डब्ल्यू.बी.ए.आई. रेडियो स्टेशन ने मेरा साक्षात्कार किया। मैंने बाल्यावस्था की संस्था और बच्चों व किशोरों की उन सम्भावनाओं व क्षमताओं का उल्लेख किया जिनका हम न तो उपयोग करते हैं न ही उन्हें स्वीकारते हैं। कार्यक्रम के दौरान कई फोन आए। समय सीमा में जितनों के उत्तर दिए जा सकें, उससे कहीं अधिक। रेडियो स्टेशन से निकलने से पहले एक व्यक्ति का फोन आया। वह काफी देर से फोन लनाने की लगातार कोशिश कर रहा था। स्टेशन वालों ने कहा कि वह मुझसे बात करना चाहता है। क्या मैं उससे फोन पर बात करूँगा? मेरे हाँ कहने पर उसने मुझे एक रोचक कहानी सुनाई। वह एक दन्त टैक्नीशियन था और न्यू यॉर्क के किसी दन्त चिकित्सालय की प्रयोगशाला का अध्यक्ष था। उसने अपने कार्यालय के लोगों को सालों से यह सिखा रखा था कि अगर कोई दस-ग्यारह साल का शख्स अपने माता या पिता के साथ आए तो उसे फौरन खबर की जाए। जब भी उसे ऐसी सूचना मिलती तो वह बाहर निकलता। उस बन्दे के पास जाकर कहता, “क्योंकि तुम्हारी माँ/पिता अपना इलाज करवा रहे हैं और तुम यूँ ही बैठी/बैठे हो, क्या तुम प्रयोगशाला देखना चाहोगी/चाहोगे?” लगभग हर बार वह लड़की/लड़का फौरन तैयार हो जाते। वह उन्हें प्रयोगशाला दिखाता। सभी तरह के कामों के बारे में बताता। अगर बच्चा रुचि लेता नज़र आता तो वह अगला सवाल करता, “मैं जो कर रहा हूँ, क्या उसमें तुम मेरी मदद करना चाहोगे?” और लगभग हमेशा ही उसे हाँ में जवाब मिलता। वह फौरन उसे काम में लगा देता।



मुख्य बिन्दु यह है कि हमेशा ही सच में कुछ ऐसा काम जरूर होता था जो वह बच्चा कर सकता था। मुझे यह बताने के बाद उस प्रयोगशाला अध्यक्ष ने कहा, “काश मैं ऐसे प्रखर, जिज्ञासु, तत्पर और तेज़ी से सीखने वाले लोगों को अपने सहायकों के रूप में नियुक्ति दे सकता जो इन दस वर्षीय बच्चों की तरह हों। जब तक वे उस उम्र में पहुँचकर मेरे पास आते हैं, जब कानून उन्हें काम करने की अनुमति देता है, तब तक उनकी ऊर्जा, जिज्ञासा, आत्मविश्वास और काम की इच्छा धुल-पूँछ चुकी होती है।”

एक बार नवीं कक्षा की एक छात्रा ने मेरे कार्यालय में सप्ताहभर के लिए मेरे दो सहकर्मियों के साथ काम किया। वे शहरी प्रशासन के विभिन्न विभागों से शहर के एक हिस्से में एक एडवेंचर पार्क या खेल मैदान बनवाने की अनुमति चाहते थे। छात्रा ने पत्र लिखे, फोन किए, विभिन्न सरकारी कार्यालयों में गईं, दफ्तर के छोटे-मोटे काम किए, लोगों से बातचीत की, खूब काम किए जो बहुत उपयोगी साबित हुए। सप्ताह पूरा होने पर उसे वापस अपने स्कूल जाना शुरू करना था। उसने कुछ उदास होकर कहा कि उसे काम करने में बेहद मज़ा आया था, काश वह आगे भी यही कर सकती। यह सच था कि दफ्तर में उसके द्वारा किए कामों में आमतौर पर लोगों द्वारा किए जा रहे कामों की तुलना में कहीं अधिक विविधता और रोचकता थी। एक सच यह भी था कि उसने सभी काम बड़ी कुशलता से किए थे।

जे.एच.वैन डेन बर्ग एक सोलह वर्षीय किशोर के बारे में बताते हैं जिसे युद्ध के दौरान हॉलैण्ड के किसी इलाके में एक सैन्य टुकड़ी की कमान संभालने को भेजा गया था। मुझे याद आता है कि नौ-सेना इतिहास पढ़ने के दौरान मैंने जाना कि क्रान्ति युद्ध के दौरान कई चौदह वर्षीय लड़के मध्यपोत अधिकारी बनाए गए थे। यह नौ सेना अधिकारियों का सबसे निचला स्तर है। कम से कम एक सोलह वर्षीय किशोर ने अपने युद्धपोत की कमान भी संभाली थी। यह ज़िम्मेदारी साधारण लोगों द्वारा संभाली जाने वाली ज़िम्मेदारियों से कहीं कठिन और बड़ी थी। एक नृशास्त्री हैं एडवर्ड हॉल। ये अब दक्षिण-पश्चिम में रहते हैं और वहाँ के इतिहास में बेहद रुचि लेते हैं। उन्होंने मुझे बताया कि लगभग सौ वर्ष पूर्व एक बड़ी मालगाड़ी मध्य अमरीका से न्यू मैक्सिको तक एक चौदह वर्षीय किशोर की देखरेख में पहुँची थी। इस घटना का लेखा-जोखा मौजूद है। डब्ल्यू.डब्ल्यू. नॉर्टन कम्पनी द्वारा 1955 में प्रकाशित *रिचर्ड तृतीय* में पॉल मरे केन्डॉल लिखते हैं : “...(महाराज) एडवर्ड ने एक-एक धेला इकट्ठा किया और दक्षिणी इंग्लैण्ड के सभी बाईस देशों में अपने सन्देशवाहक भेजे। ...अमूमन प्रत्येक देश के लिए लगभग आधा दर्ज़न संदेशवाहक भेजे जाते थे। ...पर इस दृष्टान्त में ग्लाउसेस्टर के ड्यूक रिचर्ड को अकेले ही बाईस में से

नौ देशों से सम्पर्क करने की ज़िम्मेदारी सौंपी गई। जाहिर है कि बारहवें वर्ष में रिचर्ड को उसके शासक भाई ने साम्राज्य के एक चौथाई हिस्से से सेना एकत्रित करने की आश्चर्यजनक ज़िम्मेदारी सुपुर्द की।”

हम जब भी पूर्व काल के बच्चों की तथाकथित समय-पूर्व परिपक्वता के बारे में पढ़ते हैं तो हमें संशय होता है। या फिर हम भयभीत हो जाते हैं। “समय-पूर्व परिपक्वता” या “समय-पूर्व परिपक्व” जैसे शब्द हमें बीमारियों के नाम जैसे लगते हैं। इनसे हमारे अन्दर बैठी यह भावना उजागर होती है कि अधिकांश बच्चे इतनी कम आयु में यह सब कर ही नहीं सकते। और जो बच्चा यह कर सका या जिसने यह किया वह किसी तरह का निराला बच्चा होगा। अधिकांश लोग बच्चों को लेकर इस कदर भावनात्मक होते हैं या उनका नज़रिया बच्चों को इस कदर दीनहीन मानने का होता है कि जब वे यह सुनते हैं कि कोई चार वर्ष का बच्चा लैटिन व ग्रीक बोल सकता है, तो वे एक विचित्र आशंका से भर उठते हैं। परन्तु दरअसल इसमें इतना विस्मयकारी कुछ है नहीं। आज के युग में भी नहीं। कई भाषाओं के सतत् सम्पर्क में रहने वाले बच्चे उन सभी भाषाओं को उतनी ही आसानी से बोलने लगते हैं जितनी आसानी से दूसरे बच्चे एक भाषा सीखते हैं। स्विट्ज़रलैण्ड में पढ़ाई करने के दौरान यूरोप के छोटे देशों से आए कई बारह वर्षीय लड़कों से मेरा परिचय हुआ। वे तीन या चार भाषाएँ धड़ल्ले से बोलते थे। और इस तथ्य पर कोई भी चकित नहीं होता था, क्योंकि अगर आप किसी छोटे देश के निवासी होते और इतनी यात्रा करते तो आप भी ठीक यही करते।

सम्भवतः संगीत ही वह क्षेत्र है जिसमें बाल-प्रतिभाओं की चर्चा सबसे अधिक होती है। पर वहाँ भी हमें यह खास पसन्द नहीं आती है। और हम मान लेते हैं कि बच्चे में कुछ गड़बड़ है। बच्चे पर दबाव डालकर उसे कुछ विचित्र बना डाला गया है। पर जापानी संगीतकार व शिक्षक सुजूकी ने दर्शाया है: 1. छह, पाँच यहाँ तक कि चार साल के बच्चे आश्चर्यजनक दक्षता से वायलिन बजाना सीख सकते हैं। 2. यह काम बड़ी संख्या में “औसत” कहलाने वाले बच्चे भी कर पाते हैं; केवल वे चन्द बच्चे नहीं जो विलक्षण प्रतिभा के धनी हों। 3. बच्चे अपना पूरा जीवन वायलिन पर बलि चढ़ाए बिना, किसी स्थाई क्षति के बिना, बिना कुण्ठित हुए या “बिना बाल्यावस्था खोए” भी ऐसा कर पाते हैं। सुजूकी द्वारा प्रशिक्षित बच्चे अब तक कई बार अमरीका आ चुके हैं। हर बार उन्होंने अपनी दक्षता और संगीतमयता से लोगों को स्तम्भित किया है। जिस कार्यक्रम में मैंने उन्हें पहले-पहल सुना था, सुजूकी ने स्पष्ट किया था कि ये बच्चे प्रतिभा सम्पन्न संगीत छात्रों में से खासतौर से छाँटे गए बच्चे नहीं थे। उनकी खासियत इतनी भर थी कि उनके माता-पिता यात्रा का व्यय वहन कर सकते

थे और उनकी माँ उनके साथ यात्रा में जा सकती थी। पर जापान में ऐसे हज़ारों छात्र और थे जो उनकी ही तरह अच्छा बजा सकते थे। इसके अलावा मैंने उन बच्चों के लक्षणों से यह अन्दाज़ भी लगाया कि वे स्वस्थ, प्रसन्न और जीवन्त थे। वे किसी भी तरह सुजूकी से डरते नहीं लग रहे थे। यह भी साफ था कि वे जो कुछ कर रहे थे उसमें उन्हें बेहद मज़ा आ रहा था। वे जीवन, ऊर्जा और आनन्द से भरपूर थे।

मैं सुजूकी के वायलिन प्रशिक्षण की पैरवी नहीं कर रहा हूँ। बेशक वे एक शिक्षक के रूप में महत्वपूर्ण हैं। जैसा उन्होंने कहा कि एक दिन अचानक उन्हें अहसास हुआ कि अगर जापान का हर बच्चा जापानी भाषा बोलना सीख सकता है, तो फिर उनमें से अधिकांश में वायलिन बजाना सीखने की क्षमता भी ज़रूर होगी। (गौरतलब है कि जापानी भाषा सीखना एक बेहद कठिन काम है, क्योंकि उसमें पेचीदा समन्वयन की ज़रूरत पड़ती है।) पर वायलिन ही क्यों? आंशिक रूप से इसलिए क्योंकि यह सुजूकी का वाद्य था। और अंशतः इसलिए कि बाँसुरी आदि जैसे वायुवाद्यों के विपरीत वायलिन को बच्चों के आकार के अनुसार छोटा बनाया जा सकता है। और अंशतः इसलिए कि काफी छोटे बच्चों में भी इसे बजाने की ताकत होती है। इसलिए भी कि तारवाद्यों में सही स्वर निकालना सम्भव है। इनमें छोटे-छोटे चरणों द्वारा सही स्वर तक पहुँचा जा सकता है, जो वायुवाद्यों या ढोल, ड्रम आदि में कठिन होता है। संक्षेप में, अगर हमारी मंशा सही हो और चीज़ें सीखी कैसे जाती हैं इसकी स्पष्ट समझ हो (हमें कुछ सिखाना चाहने वाले दूसरे लोग इस तरीके को अपनाते तक नहीं हैं) तो वायलिन (या दूसरे तार वाद्य) बजाना सीखना कठिन न होकर आसान ही होता है।

इसके विपरीत मैं एक दूसरे स्कूल की बात सोचता हूँ जो सम्भवतः ज़्यादातर अमरीकी पूर्व प्राथमिक शालाओं का प्रतिनिधित्व करता है। यहाँ चार-पाँच साल के बच्चे मिलजुलकर एक संगीत टोली बनाते हैं। इसे ताल-वाद्यवृन्द (रिदम बैण्ड) का नाम दिया जाता है। इसमें बच्चे ढोल, घण्टियों, ताशे आदि के साथ ताल देते हैं और शिक्षक या शिक्षिका संगीत बजाती है। ये बच्चे और इनके ये शिक्षक मानकर चलते हैं कि ऐसा करते हुए वे अपनी क्षमता की चरम सीमा तक पहुँच चुके हैं और हम सबको उन्हें सुनकर अचरज से भर जाना चाहिए। इस दौरान जापानी बच्चे, जिनमें इनसे अधिक नैसर्गिक संगीत क्षमता नहीं है, विवाल्डी, हैण्डल तथा बाख जैसे महान संगीतकारों द्वारा तैयार किए गए वायलिन संगीत को बजा पाते हैं।

मैं एन. आर्बर के बाल समुदाय (चिल्ड्रन्स कम्प्यूनिटी) की यात्रा से लौट रहा था। उस समय यह समुदाय अपने उत्कर्ष पर था। मुझे डैट्रॉइट हवाई अड्डे पर

छोड़ने जाने का समय आया तो बिल आयरस ने पूछा कि कितने बच्चे हमारे साथ हवाई अड्डे तक चलना चाहेंगे। पाँच बच्चे राज़ी हुए। उनकी उम्र पाँच साल से अधिक न थी। हम निकल पड़े। तीन पीछे बैठे, एक बिल और मेरे बीच में और एक मेरी गोदी में। रास्ते में स्थानीय रेडियो स्टेशन का संगीत बजता रहा। लोकप्रिय धुनें थीं - ब्ल्यूस्, रॉक व मोटाउन संगीत की। मैं विस्मय से भर गया कि सभी बच्चे उन गीतों को शब्दशः और सस्वर, लय और ताल के साथ गा सके। वे सभी गीत हमारे सामान्य स्कूलों में गाए जाने वाले गीतों की तुलना में बीस गुना अधिक पेचीदा और कठिन तो रहे ही होंगे।

कुछ सालों पहले मीडिया में एक आठ वर्षीय बाल प्रतिभा के चर्चे थे। लड़के का नाम था जोइ एल्फीडी। वह पियानो बजाता था और उसने काफी पेचीदा संगीत स्वयं लिखा भी था। उसने एक सिम्फनी ऑर्केस्ट्रा का निर्देशन किया था और उसे रिकॉर्ड भी किया था। (शायद यह बीथोवन की अष्टम सिम्फनी थी)। उसके बाद संगीत के क्षेत्र में उसने क्या किया, मुझे पता नहीं। कुछ बाल प्रतिभाएँ संगीत के क्षेत्र में रुचि कायम रख पाती हैं और अपनी नैसर्गिक क्षमता को परिमार्जित करती हैं। हमारे समय में संगीत निर्देशक लौरिन माजेल और वायलिन वादक यहूदी मैन्वूहिन इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। पर कई बच्चे ऐसा नहीं कर पाते हैं। मेरे हिसाब से दोनों ही स्थितियाँ अपने आप में ठीक हैं। मुझे लगता है कि संगीत में खूब तरक्की कर पाने वाले बच्चे संगीत सीखने के दबाव के कारण ऐसा नहीं कर पाते हैं। क्योंकि लाखों बच्चे जिन पर सीखने का खूब दबाव रहता है, तरक्की नहीं भी कर पाते हैं। सीखने और आगे बढ़ने वाले बच्चे संगीत प्रेमियों से घिरे होने के कारण ऐसा कर पाते हैं। महत्वपूर्ण यह भी है कि उनके इर्दगिर्द वाले लोग बच्चों के संगीत में दक्ष होने को असम्भव नहीं मानते हैं।

बच्चों पर लिखने वाले लोग अमूमन इन दो शब्दों, “अपेक्षा” और “उम्मीद”, को गलत समझते हैं और उनका गलत उपयोग भी करते हैं। अधिकांशतः इन्हें “माँग”, “आग्रह” या “बाध्य करने” के समानार्थक शब्दों के रूप में इस्तेमाल किया जाता है। जब वे कहते हैं कि हमें बच्चों से बेहतर अपेक्षाएँ रखनी चाहिए, तो दरअसल उनका अर्थ होता है कि हमें उनसे यह माँग करनी चाहिए कि कुछ चीज़ें करें। और अगर वे नहीं करते तो उन्हें सज़ा की धमकी देनी चाहिए। मैं जब यह कहता हूँ कि बच्चों से हमारी अपेक्षाएँ ऊँची होनी चाहिए तो मेरा अर्थ इतना भर है कि वे कितना कर पाएँगे उसकी अधिकतम सीमा हम खुद न तय कर डालें। मेरा मतलब यह नहीं है कि हम मान लें कि क्योंकि वे कर सकते हैं, इसलिए उन्हें कुछ चीज़ें करनी ही चाहिए। और अगर वे नहीं कर पाए तो उन्हें निराश या चिन्ताग्रस्त होना चाहिए। दरअसल जीवन में प्रवेश करने की

हरेक व्यक्ति की अपनी निजी राह होती है और समय सारिणी भी। मैं यह भी नहीं कहना चाहता कि हम यह न मानें कि कुछ ऐसी चीज़ें हैं जिन्हें बच्चे नहीं कर सकते। और जब वे उन असम्भव-सी चीज़ों को कर डालें तो हमें अचम्भा भी न हो या खतरा तक महसूस न हो। मेरा कहना है कि विकसित होने का उनका जो भी तरीका है उसके प्रति हमारा मन, हमारी दृष्टि खुली हो। मेरा मानना है कि अगर हम बच्चों से और बच्चे खुद से अधिक अपेक्षा रखें तो वे अपने आसपास की दुनिया के बारे में काफी तेज़ी से सीख पाएँगे। दूसरे शब्दों में, तीन साल की आयु के बाद भी उनकी तलाशने और सीखने की प्रक्रिया जारी रहेगी, और वे उतनी ही आतुरता और दक्षता से सीखते जाएँगे जिससे उन्होंने पहले तीन सालों में सीखा था।

मैं अपनी ज़िन्दगी में वाहन चालक की बजाए अधिकतर सहयात्री ही रहा हूँ। लोग मुझे एक से दूसरी जगह ले जाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में मैं हम कहाँ जा रहे हैं इसकी अपेक्षा आसपास की चीज़ों पर अधिक ध्यान देता चलता हूँ। कुछ वैसे ही जैसे बच्चे करते हैं। बिना केन्द्रित रुचि के। पर इसके विपरीत जब मैं खुद गाड़ी चलाकर कहीं जाता हूँ, जहाँ से मुझे वापस भी लौटना हो, या बाद में फिर से वहीं जाना हो, तो मैं हर मोड़ को ध्यान से देखता हूँ, कल्पना करता हूँ कि लौटते समय वह कैसा लगेगा, इत्यादि।

अगर हमारे समाज में बच्चे तौर-तरीके जल्दी नहीं सीख पाते हैं (जबकि सच तो यह है कि जितना हम सोचते हैं वे उससे कहीं तेज़ी से सीखते हैं), तो यह अंशतः इसलिए होता है कि बच्चों को सीखने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती है। उनसे इसकी उम्मीद नहीं रखी जाती, ना ही वे खुद से इसकी अपेक्षा करते हैं। और अंशतः इसलिए भी क्योंकि वे जानते हैं कि सीखने के बाद भी वे उस ज्ञान का उपयोग नहीं कर पाएँगे। मान लें कि हम बच्चों को किसी जगह अक्सर ले जाते हैं। और उनसे कहें कि एक स्थान के बाद हम उन्हें अपना मार्गदर्शक बनने देंगे। मान लें कि बच्चों के साथ शहर में घूमते समय हम शहर से अपरिचित होने का नाटक करें और हर कोने या मोड़ पर उन्हें रास्ता बताने दें। तो क्या वे मुहल्लों, कस्बों और शहरों के रास्ते जल्दी नहीं पहचानने लगेंगे? क्या वे आसपास के चिन्हों से सूचना लेना या दूसरों से रास्ता पूछना जल्दी नहीं सीखेंगे?

कुछ ही समय पहले मैंने इसका एक अविश्वसनीय उदाहरण कोपनहैगन हवाई अड्डे के मुख्य भवन में देखा। वह गर्मियों की एक सुबह थी। मेरे जहाज़ के उड़ने में दो-एक घण्टे का समय था और मैं मुख्य प्रतीक्षालय में बैंक खुलने का इन्तज़ार कर रहा था ताकि कुछ मुद्रा बदल सकूँ। मैं खड़े-खड़े लोगों की भीड़ को देख रहा था। उन्हें मित्रों से मिलते, इधर-उधर जाते देख रहा था। कहीं

साथ-साथ जाने वाले लोगों का एक बड़ा-सा समूह भी वहाँ ठहरा हुआ था। खूब सारे सामान से घिरे वे एक-दूसरे से बात करते खड़े थे। इनमें से एक महिला के साथ दो बच्चे थे। बड़ा बच्चा करीब चारैक साल का था और छोटा दो-तीन का। वे बड़े उत्तेजित, जिज्ञासु और सक्रिय लगे। मैं मन बहलाने के लिए उन्हें देखने लगा। वे हवाई अड्डे में आते-जाते कतार में खड़े लोगों और दूसरे समूहों के बीच और इर्दगिर्द भाग-दौड़ रहे थे। छोटा बच्चा बड़े से अधिक साहसी था। वह अक्सर अपनी माँ की नज़र से ओझल भी हो जाता था, पर यह बात उसे परेशान नहीं कर रही थी। कुछ देर एक-दूसरे के पीछे भागने या इधर-उधर घूमने के बाद वे अपनी माँ के पास लौट आते थे। माँ अपने दोस्तों से बतिया रही थी। बच्चों को लेकर वह निश्चिन्त और पूरी तरह आत्मविश्वास से भरी लग रही थी। वह बातों में इतनी मशगूल थी कि लग ही नहीं रहा था कि वह बच्चों पर नज़र रखे है। मुझे उसका विश्वास प्रशंसनीय लगा। परन्तु बीच-बीच में यह चिन्ता भी थी कि कहीं बच्चे उस भीड़-भाड़ में परेशानी में फँस या खो न जाएँ, ऐसा न हो कि वे माँ को ढूँढ न पाएँ। पर उन्होंने उसे हर बार ढूँढ निकाला। और ढूँढने का यह काम उन्होंने बिना किसी घबराहट के किया। वे इस कदर सहज और व्यवस्थित थे जैसे शायद मैं टिकट काउण्टर को तलाशने के समय होता।

समय गुज़रने के साथ हवाई अड्डे को, अखबारों की दुकानों को, रेस्तराँ आदि को लेकर उनकी जिज्ञासा बढ़ती गई। वे अपनी तलाश में हर बार माँ से ज़्यादा दूर जाने और फिर माँ के पास वापस लौटने लगे। अन्ततः वह छुटका भवन के दूसरे छोर की ओर भागा जो दो सौ फीट से भी अधिक दूर था। दूसरा भी उसके पीछे बढ़ा। इस बार वह कुछ घबराया-सा था और पलटकर माँ की दिशा में देखता जा रहा था। मैं भी घबरा गया। मैंने सोचा कि भवन के दूसरे छोर पर पहुँचने के बाद जब वे पलटकर उस विशाल दूरी को देखेंगे और उन्हें अपनी माँ कहीं नज़र नहीं आएगी तो वे शायद बौखला जाएँ। मैं चुपचाप भवन के दूसरे छोर की ओर बढ़ा। इस तैयारी के साथ कि अगर उन्हें मदद की ज़रूरत पड़ेगी तो मैं राह दिखा दूँगा। पर इसकी ज़रूरत नहीं पड़ी। छुटके ने भवन के उस छोर को ठीक से देखा। कुछ दरवाज़े धकियाए, पलटा और उसी तेज़ी से अपनी माँ की दिशा में वापस भागा। और तब तनावमुक्त हो बड़ा भी उसके पीछे लौट आया। फिर से दौड़ लगाने के पहले वे कुछ पल अपनी माँ के पास रुके। इस बार वे स्वचालित प्रवेश द्वार की तपतीश पर निकले। वे लोगों के आने-जाने के साथ द्वार को खुद-ब-खुद खुलते और बन्द होते देखते रहे। उन्होंने दो-एक बार खुद भी यह प्रयोग किया और समझ लिया कि दरवाज़ा कब खुलता है। कुछ देर उन्होंने स्वयं को इस गतिविधि में उलझाए रखा। फिर

छुटके ने यह भी जाँचना चाहा कि दरवाज़े के बाहर क्या कुछ है। प्रवेश द्वार के बाहर एक बड़ी-सी बस आ खड़ी हुई थी। वह दरवाज़े से निकलकर उसे ठीक से देखने को बढ़ चला। मैं दरवाज़े के इस पार से उसे देख रहा था और फिर से घबराने लगा था। उसने कुछ देर तक बस से उतरते लोगों को देखने का मज़ा लिया। फिर अचानक मुड़ा और फुटपाथ पर चलता हुआ मेरी आँखों से ओझल हो गया। मैंने सोचा “गज़ब हो गया” और फौरन उस पर नज़र रखने बाहर निकल आया। पर कोशिश यही थी कि उसे यह पता न लगे। वह अब आगे प्लेटफॉर्म तक पहुँच चुका था और वहाँ खड़ी दूसरी बसों को निहार रहा था। मैं सोचता रहा कि अब आगे क्या होगा? क्या वह अपनी माँ को भूल ही गया है? क्या वह एक के बाद दूसरे आकर्षक नज़ारे देखता बढ़ता चला जाएगा? या अगर वह प्रतीक्षालय और अपनी माँ के पास लौटना चाहे तो क्या वह रास्ता ढूँढ पाएगा? या फिर मुझे ही किसी डैनिश भाषी व्यक्ति की मदद से उसे लौटने की राह बतानी होगी? पर मुझे चिन्ता करने की ज़रूरत दरअसल थी ही नहीं। जब वह जी भरकर बसों को देख चुका तो बिना हिचक या दुविधा दर्शाए, प्रवेशद्वार की ओर लौटा और सीधे अपनी माँ के पास पहुँच गया। माँ ने भी बिना घबराहट या आश्चर्य के उसका स्वागत किया। इसके कुछ देर बाद वह समूह उस ओर बढ़ गया जहाँ उसे जाना था और मुझे फिर कहीं नज़र न आया।

ज़ाहिर है कि यह बच्चा वह कर पा रहा था जो हम उस उम्र के बच्चे के लिए असम्भव मानते हैं और काफी बड़े बच्चों से ही इसकी अपेक्षा करते हैं। वह अपने आसपास को देखकर एक मानसिक मानचित्र बना पा रहा था, जिसके सहारे वह वापस लौट सके। मेरा अन्दाज़ है कि उसने ऐसा करने का काफी अभ्यास किया होगा और उसकी माँ उसे लगातार कोई भी स्थान को जाँचने-देखने की अनुमति देती रही होगी। सम्भवतः पहले-पहल वह उसके पीछे-पीछे गई होगी, जैसे मैं भागा था। फिर बच्चे के कौशल व आत्मविश्वास के विकास के साथ माँ का उस पर भरोसा भी बढ़ा होगा। तब वह उसे ज़्यादा दूर-दूर तक जाने देने लगी होगी। उस नन्हे से बालक ने इतनी क्षमता कैसे पा ली यह तो मैं कभी जान ही नहीं सकूँगा। पर जो वह कर पाया निश्चय ही दूसरे भी कर सकते हैं। अगर बच्चों की निर्भरता और दक्षता में हम अपना निहित स्वार्थ त्याग दें, तो क्या वे जल्दी ही आत्मनिर्भर व कुशल न हो जाएँ? हमें यह कोशिश तो करनी ही चाहिए।





## 11. प्रेम का पात्र बच्चा

सालों पहले मेरी एक दोस्त एक बड़े रोचक “लज्जादायक पल” का किस्सा सुनाया करती थी। न्यू यॉर्क के एक बड़े डिपार्टमेंटल स्टोर में सेल की बात सुन वह भी, दूसरी महिलाओं की तरह, सुबह-सुबह वहाँ पहुँची। ताकि सभी सस्ती व अच्छी चीज़ें छँट जाएँ, उसके पहले वह वहाँ मौजूद हो। दरवाज़े खुलते ही वह तेज़-तरार खरीददारों की भीड़ में फँस गई। आगे बढ़ने की कोशिश में उसने खुद को दो छोटे लड़कों के पीछे पाया जो उसकी कमर तक आते थे। कुछ लाड़ और शैतानी की रौ में उसने दोनों के सर पर एक-एक उँगली टिका दी और दो-एक कदम यूँ चली। पर इससे ज़्यादा नहीं। कुछ ही पल में दो नाराज़ वयस्क चेहरे उसकी ओर मुड़े और उन्होंने कहा, “आप कर क्या रही हैं?” वे बौने थे।

पिछले सालों में मैंने उसे कई बार यह किस्सा सुनाते देखा है। उसे दूसरों की हँसी में अपनी आवाज़ जोड़कर ठठाकर हँसते देखा है। हाल ही में कई वर्षों के बाद मुझे यह अहसास हुआ कि अगर वे दो व्यक्ति बौने न होकर सच में बच्चे होते तो हमें उसका उनके सिर पर यूँ उँगलियाँ टिकाकर चलना बुरा भी नहीं लगता। जो बात घटना को मज़ेदार बनाती है वह यह थी कि बच्चों को प्यार करने वाले लोग जो कुछ उनके साथ करना पसन्द करते हैं, यहाँ वही एक लज्जाजनक घटना में बदल गया था। हम सब हँसते इसलिए थे कि हम बड़ी आसानी से खुद को उसके स्थान पर रखकर अपने हृदय में उमड़ते स्नेह की, प्यारे नन्हे बच्चों के सिर पर रखी उँगलियों की, और फिर अपनी गलती के कारण अपनी लज्जा की कल्पना कर सकते थे। पर अपरिचित बच्चों के सिर पर उँगलियाँ टिकाकर चलना क्या सच में एक अच्छा विचार है? ऐसा करने का अधिकार हमें किसने दिया? यह कल्पना तक हम कैसे कर सकते हैं कि बच्चों को हमारा ऐसा करना अच्छा लगेगा?

हम उस समय किसी व्यक्ति को एक वस्तु में बदल डालते हैं जब हम उसका उपयोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, खुद के लिए कुछ पाने के लिए करते हैं, बिना यह विचार किए कि उसे कैसा लगेगा या उससे पूछे बिना कि क्या उसे भी इसमें मज़ा आएगा या नहीं। कई महिलाओं की शिकायत रहती है कि अधिकांश पुरुष उनका उपयोग यौन-वस्तुओं की तरह करते हैं या फिर करना चाहते हैं। ऐसे पुरुष मानते हैं कि अगर वास्तव में नहीं तो कम से कम कल्पना

में उन्हें सभी महिलाओं का उपयोग अपनी यौनेच्छाओं की सन्तुष्टि के लिए करने का अधिकार है। कई पुरुष, खासकर नौजवान पुरुष, आदतन हरेक महिला को इसी दृष्टि से तोलते हैं। यानी वे यह कल्पना करने की कोशिश करते हैं कि वह महिला निर्वस्त्र होकर कैसी लगेगी या उसके साथ सम्भोग का अनुभव कैसा होगा। और वे तत्काल निष्कर्ष निकालते हैं - “उम्दा सम्भोग की वस्तु!”, “ठीक-ठाक है”, “कुछ खास नहीं”, “धत तेरी की”। अगर उनका निष्कर्ष सकारात्मक रहता है तो वे कुछ पल उसके साथ काल्पनिक सम्भोग में बिताते हैं। और कुछ लोग तो इस कल्पना को यथार्थ में बदलने की कोशिश भी करते हैं। पर अगर उनका फैसला नकारात्मक रहा हो तो वे उस औरत के बारे में कुछ भी नहीं सोचते। उनके लिए वह महिला किसी अर्थ में रोचक नहीं रहती।

जब कोई पुरुष वास्तव में या महज कल्पना में किसी महिला का (या कोई महिला किसी पुरुष का) उपयोग एक यौन-वस्तु के रूप में करता है तो वह ऐसा सामने वाले की ज़रूरतों पर ध्यान दिए बिना, सिर्फ अपनी ज़रूरतों के कारण करता है। हमारी संस्कृति में पुरुषों को महिलाओं के ऐसे उपयोग के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हमारे सारे विज्ञापन, मीडिया, हमारे आस-पास की समूची दुनिया महिला को एक यौन-वस्तु के रूप में देखने को उकसाती है। कई महिलाएँ भी इसमें साथ देती हैं। वे अपना प्रदर्शन करती हैं। ऐसा वे पैसों के लिए या फिर “एक अदद पुरुष जुगाड़ने के लिए” करती हैं - एक मित्र, प्रेमी या पति के रूप में। पर फिर भी यह यौन-वस्तु उद्योग यानी महिलाओं को यौन वस्तुओं के रूप में बेचने का धन्धा अधिकांशतः पुरुष ही अन्य पुरुषों के फायदे के लिए चलाते हैं।

महिलाओं को यौन उपभोग की वस्तुओं के रूप में इस्तेमाल करने की इस आदत से शायद यह भी समझा जा सकता है कि कुछ पुरुष लम्बे बालों वाले पुरुषों को देख इतना नाराज़ क्यों होते थे या आज भी नाराज़ क्यों हो जाते हैं। लम्बे बाल, छल से, उन्हें कल्पना में अन्य पुरुषों के प्रति, अर्थात् समलैंगिक सम्बन्धों के प्रति आकर्षित कर सकते हैं। ऐसे एक लड़के को पार करने के बाद एक बार एक टैक्सी चालक मेरी और मुझ और गुस्से से बोला, “अब पता ही नहीं चल पाता कि अगला लड़की है या लड़का।” मैंने कहा, “अगर उन्हें यह अन्तर स्पष्ट है तो शायद चिन्ता की कोई बात नहीं है।” उसका प्रत्युत्तर था, “चिन्ता की बात भला क्यों कर नहीं है!” उससे यह पूछने का वह उचित समय नहीं था कि अन्तर कर पाना ही उसके लिए भला इतना ज़रूरी क्यों है। ऐसी ही स्थिति में एक दूसरे टैक्सी चालक ने क्रोध से अवरुद्ध कण्ठ से कहा, “सालों को गोली से उड़ा देना चाहिए!” इन पुरुषों के लिए एक नज़र में यह अन्तर कर पाना

क्यों ज़रूरी रहा होगा कि व्यक्ति लड़का है या लड़की? एक कारण यह हो सकता है कि वे जानना चाहते हों कि वे उससे काल्पनिक सम्भोग कर सकते हैं या नहीं? अन्यथा वे किसी लड़की के साथ सम्भोग के दिवास्वप्न देखते हों और अचानक पाएँ कि वह तो लड़का है। मानो लम्बे बाल उन्हें कपटपूर्वक समलैंगिक बना डाल रहे हों।

स्त्रियों और पुरुषों के सम्बन्ध में ऐसे विचार काफी आसानी से समझे जाते हैं। कम से कम ज़्यादातर लोग अब उन्हें समझने लगे हैं। और शायद ये विचार मेरे इस कथन का तात्पर्य भी स्पष्ट कर सकें कि अधिकांश वयस्क महिलाएँ व पुरुष दोनों ही बच्चों का उपयोग तथाकथित प्रेम की वस्तु के रूप में करते हैं। हम यह सोचते हैं कि यह हमारा अधिकार या दायित्व है कि हम उन पर अपना “प्रेम” उड़ेलें, अपने स्नेह का ठोस सबूत उन्हें देते रहें। यह सब हम जब जी में आए, जिस तरह जी करे, उन्हें पसन्द हो या नहीं, ज़रूर करें। ऐसा करते समय हम दरअसल उनका शोषण करते हैं, अपने उद्देश्यों के लिए उनका उपयोग करते हैं। बच्चों या बाल्यावस्था का उपयोग, शोष रूपों से कहीं ज़्यादा, इसी रूप में होता है कि वे हमारे लिए प्रेम की वस्तुएँ उपलब्ध करवाएँ। यही कारण है कि बच्चों का होना और बाल्यावस्था की संस्था को बनाए रखना तमाम परेशानियों और खर्चों के बावजूद हमें उपयोगी लगता है।

इस उद्देश्य के लिए बच्चों की ज़रूरत पड़ने का एक कारण है कि हम मानवीय सम्पर्क और स्नेह के भूखे हैं। अधिकांश लोगों के पास ऐसे व्यक्ति कम ही हैं जिन्हें वे जायज़ स्नेह दे सकें। जिनके साथ इस स्नेह को शब्दों या स्पर्श में अभिव्यक्त कर पाएँ, उनकी संख्या तो और भी कम होगी। इस सन्दर्भ में शायद महिलाओं की स्थिति पुरुषों से बेहतर है। सम्भवतः इसलिए कि वे स्वयं भी भोग की वस्तुएँ मानी जाती हैं, या फिर शायद इसलिए कि समाज उन्हें हीन श्रेणी का मानता है अतः कुछ छूट देता है। पुरुषों की तुलना में उन्हें दूसरों को छूने (स्त्रियों व पुरुषों, दोनों को ही) की अधिक अनुमति होती है। पुरुषों को तो सिर्फ़ उन्हीं महिलाओं को स्पर्श करने की अनुमति होती है जिनसे उनका निकट का सम्बन्ध हो। दूसरे पुरुषों को स्नेहवश छूना तो उनके लिए वर्जित है ही। अपने मित्रों से *प्यार करना* भी हमारे लिए वर्जित है। ऐसे पुरुष जो किसी अन्य पुरुष के लिए स्नेह से कहें, “मैं उसे सच में प्यार करता हूँ” को शक की नज़र से देखा जाएगा। ऐसा कहने वाली महिला को भी भावातिरेक में बहने वाली स्त्री ही माना जाएगा। दरअसल निकट के रिश्तेदारों - बच्चे, माता-पिता, दादा-दादी/नाना-नानी, पोते-नाती - के अलावा दूसरे लोगों से *प्रेम* करना ही वर्जित है। सच तो यह है कि चाची-मौसी या चाचा-मौसा और चचेरे-मौसेरे-फुफेरे भाई-बहन तक स्वीकार्य प्रेम के दायरे में शामिल नहीं होते।

यही कारण है कि ऐसे लोग हमारे लिए बेहद कीमती होते हैं जिन्हें हम जब इच्छा हो, जब आवश्यकता हो, निःसंकोच, दूसरों के अनुमोदन के साथ, खुलकर स्नेह और प्रेम दे सकते हैं। हमें ऐसी प्रेम वस्तुओं की दरकार भी है। यह दुखद होता है कि हमारे पास प्रेम की अधिकता हो और उसे बाँटने के लिए लोग कम पड़ें। यही तो असन्तुष्ट प्रेम की त्रासदी है। न केवल हमारे प्रेम का पात्र हमें पलटकर प्रेम नहीं करता, बल्कि प्रेम करने की अनुमति तक नहीं देता। हम अपना अमूल्य खज़ाना लुटाने को तैयार होते हैं, पर उस व्यक्ति को इसकी ज़रूरत तक नहीं होती। तो हम इस खज़ाने का भला क्या करें?

कई लोगों ने अपनी बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि उन्हें ऐसे वयस्कों का आलिंगन या चुम्बन डरावना लगता था, उनके मन में जुगुप्सा पैदा करता था, जो उन्हें अच्छे नहीं लगते थे या जिनसे उन्हें मन ही मन घृणा थी। ऐसी एक चर्चा के दौरान मेरे एक मित्र ने कहा कि शायद वयस्क को चूमने की ज़रूरत हो, अतः बच्चे को चुम्बन स्वीकारने पर बाध्य करना चाहिए। यही बात बड़ों द्वारा बच्चों के उपयोग का एक बढ़िया उदाहरण है। इसके बारे में मैंने पहले भी बताया है। अगर एक चार वर्षीय व्यक्ति की ज़रूरतों और एक साठ वर्षीय व्यक्ति की ज़रूरतों में टकराव हो तो बच्चे को ही क्यों घुटने टेकने पड़ते हैं? क्या उसकी इच्छाओं का सम्मान सिर्फ इसलिए नहीं करना चाहिए क्योंकि वह छोटा और कमज़ोर है? सच यह है कि जो वयस्क बच्चे की जुगुप्सा के बावजूद उसे आलिंगनबद्ध करे, या उसकी भावनाओं को पहचाने तक नहीं, वह दरअसल एक वास्तविक बच्चे को गले लगाता ही नहीं है। वह तो बच्चे के विचार भर को, एक बाल-वस्तु को चिपटाता है। उस बच्चे के प्रति सरोकार इस आलिंगन का कारण नहीं होता, बल्कि वह इसलिए उसे गले लगाता है क्योंकि उसके साथ उस वयस्क का खून का रिश्ता है और उसे ऐसे ही स्पर्श की अनुमति है। अगर वह किसी अपरिचित बच्चे को उठाकर गले लगाए जो उसके स्नेह स्पर्श का प्रतिवाद कर रहा हो तो वह मुसीबत में पड़ जाएगा। खासकर अगर वह वयस्क पुरुष हो। क्योंकि प्रेम की वस्तु होने के बावजूद हमें कुछ ही बच्चों को शारीरिक स्पर्श करने की अनुमति होती है।

इस चर्चा का अर्थ यह नहीं है कि बच्चों को प्यार करने की हमारी इच्छा कोई खराब बात है। यह स्वाभाविक ही है कि हमारी बच्चों में रुचि हो। वे हमें मोह लें। उनके तमाम गुण, उनकी ऊर्जा, उत्साह, स्वास्थ्य, तेज़ी, शोरगुल, उनकी जिज्ञासा, बुद्धिमानी, खुशी, स्वाभाविकता, भावनात्मक गहनता, उनके आवेश, अभिव्यक्ति की क्षमता, उनकी आशावादिता, उनका हम पर भरोसा करना, उनका खिलन्दड़पन, औदार्य और उनका विस्मय व आनन्द - हमें सम्मोहित करे। हमें उनके नन्हेपन, उनकी कमज़ोरी, उनकी अनुभवहीनता, उनका

अज्ञान, समय व अनुपात के ज्ञान का अभाव आदि अक्सर छू जाता है और छूना चाहिए भी। पर हमें यह अधिकार नहीं कि हम इसलिए इन भावनाओं में गोते खाएँ क्योंकि ऐसा करना हमें सुख देता हो। हमें शब्दों या कर्म से ऐसी भावनाएँ बच्चे के सामने प्रकट करने का भी अधिकार नहीं। ऐसा हम तब तक नहीं कर सकते जब तक बच्चा स्वयं यह स्पष्ट न करे कि वह ऐसी भावनाएँ हमसे चाहता है। जब बच्चा खुद दोस्ताना महसूस करे, मस्ती व सम्पर्क की इच्छा उसमें जगे, तब उसे चौड़ी मुस्कान देने, गुपचुप आँख व मुस्कान का खेल खेलने का समय होता है। अगर वह संकेत दे तो हम उसे गोद ले सकते हैं। उसे उछाल सकते हैं, गले से लगा या चूम सकते हैं। पर जब तक संकेत न हो हमें ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है।

कुछ समय पहले मेरी एक छह वर्षीय सहेली ने अपने घर में मुझसे पूछा कि क्या वह मुझे कुछ पढ़कर सुना सकती है। मेरे हाँ कहने पर वह एक ऐसी किताब उठा लाई जो वह कई बार पढ़ चुकी थी। वह मुझसे सटकर आराम से बैठी और पढ़ने लगी। पहले पढ़ चुकने के कारण वह कहानी जानती थी और कई शब्द भी। फिर भी तमाम ऐसे शब्द थे जिनपर वह अटक जाती थी और जिन्हें उसे फिर से पहचानना पड़ता था। कई बार वह कुछ हिचकते हुए अन्दाज़ लगाती और मुझसे पूछती कि वह शब्द सही पढ़ा गया या नहीं। अक्सर उसका अनुमान सही होता। कभी वह सीधे-सीधे पूछ लेती कि शब्द क्या है, और मैं उसे बता देता।

कुछ समय मैं आराम से पूरी तरह तनाव मुक्त हो, स्नेह से भरा बैठा रहा। जिस बच्ची को मैं स्नेह करता था उसका सर मेरे बिलकुल पास था, सो मैंने उसे स्नेहवश थपथपाया। वह तुरन्त पलटी, उसकी आँखों में आश्चर्य और प्रश्न था, मानो वह कह रही हो, “ऐसा क्यों किया, हम पढ़ रहे हैं ना।” मैंने माफी माँगी और हमने पढ़ना जारी रखा।

बच्चा स्वयं अपने और हमारे बीच जो फासला रखना तय करता है उसे पहचानना और उसका सम्मान करना हमें सीखना होगा। बिना उसकी आज्ञा के हमें उसके जीवन स्थान में घुसे चले जाने का अधिकार नहीं है। ठीक उसी तरह जैसे किसी वयस्क के साथ हम ऐसा नहीं कर सकते। प्रेम की वस्तुओं की तरह उनका उपयोग हो, यह बच्चों को पसन्द नहीं आता। उन लोगों के साथ भी नहीं जिन्हें वे सच में चाहते हैं। वे चाहते हैं कि उन्हें ना कहने का अधिकार हो, कि वे स्वयं शर्तें तय करें, रिश्ता कैसे बढ़ेगा उसके नियम वे खुद बनाएँ।

मुझे एक वार्तालाप याद आ रहा है। एक माँ और उसकी तेरह वर्षीय बिटिया के बीच का वार्तालाप। बेटा बड़े सकारात्मक ढंग से किसी ऐसी चीज़ के बारे

में माँ को बता रही थी जो उसके लिए बेहद महत्वपूर्ण थी। उसकी माँ, जो वैसे भी बड़ी शिष्ट और भद्र महिला थीं, हमेशा की तरह बड़ी तन्मयता से उसकी बात सुन रही थीं। बीच-बीच में वह टिप्पणियाँ भी करती जा रही थीं। अचानक उनके मन में एक विचार उठा। उन्होंने बताया कि यह विचार अक्सर उनके मन में उठता रहता है, “क्या यह सच है कि सामने बैठी यह किशोरी जो तमाम विषयों पर बोल रही है, जो इस सकारात्मक तरीके से दुनिया में बढ़ रही है, सच में मेरी बिटिया है? क्या यह वही नन्ही-सी गुड़िया है जिसके साथ मैं इतने सालों से रहती आ रही हूँ?” विचार कौंधा ही था कि वे यादों और भावनाओं की बाढ़ में बह गईं। उनके हावभाव में एक हल्का-सा बदलाव आया। वे अपनी बेटी को विस्मय और कोमलता से देखने लगीं। इसमें किसी प्रकार का कृपाभाव न था। सिर्फ बेहद स्नेह था। पर फिर भी उस पल भर को उनके सामने बैठी उनकी बिटिया ओझल हो गई, या कहें कि वह अपने पूर्व जितने भी रूपों में थी वे सारे बच्चे भी उसमें आ मिले। किशोरी ने तुरन्त ताड़ लिया कि वह अपनी माँ के सामने एक व्यक्ति नहीं है। वह है तो बस माँ की अपनी बेटी। उसे बहुत बुरा लगा, उसने बात बन्द कर दी। उसकी माँ और मैंने काफी कोशिश की पर सघन सम्पर्क का वह सूत्र टूट चुका था। वह फिर से बात ही नहीं कर पाई। पर यह कुछ समय के लिए ही हुआ, क्योंकि वह जानती है कि उसकी माँ एक व्यक्ति के रूप में उसका सम्मान करती है। घण्टे भर बाद हम फिर से चर्चा करने लगे।

परन्तु अधिकांश बच्चे इस किशोरी की तरह भाग्यशाली नहीं होते। वे अल्पायु में ही सीख लेते हैं कि प्रेम के प्रतीक के रूप में कुछ देने और पाने की माँग उनसे लगातार की जाएगी। ये प्यार भरे शब्द हो सकते हैं, या कृत्रिम मुस्कान, छेड़छाड़, प्रशंसा, व्यक्तिगत टिप्पणियाँ, आलिंगन या चुम्बन भी हो सकते हैं। और जल्दी ही ये संकेत अर्थहीन हो जाते हैं। आलिंगन और चुम्बन भी। और बच्चे के पास अपनी भावनाएँ व्यक्त करने का, ऐसे स्नेह या आनन्द को व्यक्त करने का जिसे शब्दबद्ध न किया जा सके, कोई तरीका ही नहीं बचता। और समय के साथ ऐसी भावनाएँ महसूस करना भी कठिन हो जाता है जिसे वे अभिव्यक्त ही न कर पाएँ। और यँ हम शायद वही नष्ट कर डालते हैं जिसे हम सबसे अधिक बचाना चाहते हैं। बच्चों के प्रति “स्नेह भाव का प्रदर्शन”, “प्रेम का प्रदर्शन”, वे चाहें या ना चाहें, उन्हें स्नेही और प्रेमल बनाने का सही तरीका नहीं है। बल्कि होता इससे ठीक विपरीत ही है। कोई व्यक्ति किसी अनुभव या किसी व्यक्ति के प्रेम के अर्पण को सच में तब तक “हाँ” नहीं कह सकता जब तक वह सच में “ना” न कर सकता हो। कोई भी तहेदिल से किसी के प्रेम को स्वीकार कर उसका स्वागत नहीं कर सकता, जब तक उसे इस प्रेम

प्रस्ताव को ठुकराने का निर्विवाद अधिकार न हो। कोई भी पूरी सम्पूर्णता से और मुक्त भाव से प्रेम दे भी नहीं सकता अगर उसे न देने का असन्दिग्ध अधिकार न हो।

जो पुरुष महिलाओं का उपयोग भोग की वस्तुओं के रूप में करना चाहते हैं या करते हैं, वे स्वाभाविक रूप से इसके साथ अपना एक सिद्धान्त, अपनी एक विचारधारा भी गढ़ लेते हैं। वे महिलाओं के इस उपयोग का औचित्य इस मनगढ़न्त विचार में ढूँढ लेते हैं कि औरतें स्वयं अपना ऐसा ही उपयोग चाहती हैं। अतः हमारे पास यह “प्लेबॉय दर्शन” है जो घोषणा करता है कि दरअसल औरतों को जो चाहिए और पसन्द आता है वह है सेक्स। उनकी यौनेच्छा कभी तुष्ट नहीं होती। उनका तो जी ही नहीं भरता। ऐसे में अगर पुरुष कल्पना में या वास्तव में उन्हें भोग की वस्तुओं के रूप में देखें तो यह उचित ही है। वह तो उन पर उपकार ही करता है। उन्हें जो चाहिए वह देता ही तो है। फिर हिचकने-शर्मने की भला क्या ज़रूरत है। बस उछलो और मौके का फायदा उठा लो। इसमें बहुत जल्दी या बहुत ज़्यादा जोश-सा कुछ है ही कहाँ।

ठीक इसी तर्ज़ पर बच्चों को प्रेम की वस्तुओं के रूप में काम में लेने के बारे में भी हमारी एक विचारधारा है। कथा यूँ चलती है कि बच्चों को प्यार की ज़रूरत है। इसमें बहुत ज़्यादा हो गया, या बस काफी हो गया, जैसा कुछ नहीं होता। उन्हें इससे भी कोई फर्क नहीं पड़ता कि उन्हें यह प्यार किससे और किस रूप में मिल रहा है। उन्हें तो बस प्यार, प्यार, और अधिक प्यार ही चाहिए। सम्भव है कि इस मिथक में बच्चे के जीवन के प्रारम्भिक एकाध वर्ष के सन्दर्भ में कुछ सच्चाई भी हो। मेरा और दूसरों का अनुभव भी यही है कि शिशुओं को मानवीय सम्पर्क की ज़रूरत होती है और इसका अभाव उन्हें नुकसान भी पहुँचाता है। पर शिशुओं के साथ भी हमें विवेक का उपयोग करना चाहिए। अधिकांश बच्चों को उठाना, चिपटाना या उनके साथ खेलना पसन्द भी आता है। पर ऐसा हमेशा, या सबके लिए, या ठीक उसी तरह से, सच नहीं होता। जब वे करीब छह माह के हो जाते हैं, या कभी तो इसके भी पहले, उनके अपने सुस्पष्ट उद्देश्य, आवश्यकताएँ, पसन्द-नापसन्दगियाँ होती हैं। कभी वे किसी चीज़ में व्यस्त हो सकते हैं और सम्भव है उन्हें उस वक्त किसी प्रकार की दखलन्दाज़ी अच्छी न लगे। हो सकता है कि वे कुछ लोगों को पसन्द करते हों, पर दूसरों को कुछ कम या नापसन्द ही करते हों। या उन्हें साथ खेलना तो पसन्द आता हो, पर उठा लेना अच्छा न लगता हो। और स्नेह प्रदर्शन के कुछ खेल और तरीके उन्हें किसी से भी पसन्द न हों। सच तो यह है कि हमें शिशुओं के साथ भी सावधानी बरतनी चाहिए और उनके संकेतों को पढ़ना सीखना चाहिए। उनका सम्मान करना चाहिए।

## 12. बच्चों को “प्यारे-प्यारे” मानना

यह बात यूँ भी कही जा सकती है कि हमें छोटे बच्चों को प्यारे-प्यारे रूप में देखने से बाज़ आना चाहिए। इससे अंशतः मेरा मतलब यह है कि हमें इसके प्रति अधिक सजग होना चाहिए कि बच्चों में ऐसा क्या है जिसके प्रति हमारी संवेदनशील प्रतिक्रिया होती है। साथ ही हमें यह भी फर्क करना आना चाहिए कि हमारी कौन-सी प्रतिक्रियाएँ वास्तविक, सम्मानजनक और जीवनवर्धन करने वाली हैं और किस प्रतिक्रिया में बच्चों को तुच्छ माना जा रहा है, या उनके प्रति महज़ भावनात्मकता दिखाई जा रही है। जब हम बच्चे में निहित वास्तविक, मूल्यवान और किसी भी आयु के व्यक्ति में वांछनीय माने जाने वाले मानवीय गुणों के प्रति संवेदनशील प्रतिक्रिया करते हैं, तो हमारी प्रतिक्रिया सच्ची होती है। पर बच्चों के जो गुण हमारे अन्दर उनसे श्रेष्ठ होने का अहसास जगाते हैं, उन गुणों पर हमारी प्रतिक्रिया बच्चों को हेय दृष्टि से देखने की होती है। और जब हम ऐसे गुणों के प्रति संवेदनशील प्रतिक्रिया करते हैं, जिनका अस्तित्व बच्चे में नहीं बल्कि उनके बारे में हमारी सोच या छवि में ही होता है, तो यह महज़ भावनात्मक ही तो है।

जब हम उन्हें प्यारे-प्यारे मान उनकी ओर आकृष्ट होते हैं तो हमारी प्रतिक्रिया उन गुणों के प्रति होती है जो मानो स्वस्थ सहजबोध के कारण ही हमें आकर्षित करते हैं। बच्चों की तमाम विशेषताओं में कुछ ये हैं कि वे स्वस्थ, ऊर्जापूर्ण, तेज़, जीवन्त, उत्साही, रास्ते निकाल पाने वाले, बुद्धिमान, भावप्रवण, आशावादी, भरोसा करने वाले और माफ करने वाले होते हैं। वे बेहद नाराज़ भी होते हैं, पर हमारी तरह उनका गुस्सा लम्बे समय तक नहीं बना रहता। और इस सबसे अधिक आकर्षक यह है कि उनमें हर्षित, आनन्दित और दुखी होने की अपार क्षमता होती है। पर ये विशेषताएँ या सद्गुण हमें बचकाने नहीं लगते। ये सिर्फ बच्चों की विशिष्ट सम्पत्ति नहीं होते। ये तो *मानवीय* विशेषताएँ हैं। और हम समझदारी से सही आयु के लोगों में इन विशेषताओं का सम्मान भी करते हैं। पर जब हम बच्चों की विशेषताओं पर सोचते हैं, उन्हें बचकाना ठहराते हैं तो ऐसी विशेषताओं की कल्पना करते हैं जिन्हें उम्र के साथ उन्हें पीछे छोड़ देना चाहिए था। इस तरह हम वह सब खो देने के लिए खुद को माफ कर देते हैं जिन्हें हमें सहेजकर रखना चाहिए था। और तो और हम उन्हें भी यह पाठ



पढ़ाते हैं। मैं जिन तेज़ और सफल दस वर्षीय लड़के-लड़कियों को जानता हूँ उनमें से अधिकांश में अपनी पुरानी जिज्ञासा ज़रूर बनी रहती है, पर वे उससे शर्माना या उसे छिपाना सीख लेते हैं। केवल “छोटे बच्चे” हर समय “बेवकूफी भरे” सवाल पूछते फिरते हैं। बड़ा होने का मतलब होता है बेफिक्र होना। अर्थात् भावहीन व सरोकार रहित होना। ऐसा व्यक्ति होना जिसे कुछ छुए ही नहीं और जो कोमल या नाजूक न हो।

शायद महिलाओं को यह पाठ इतनी कड़ाई से नहीं पढ़ाया जाता। शायद परिपाटी उन्हें बच्चों-सा बने रहने की अधिक छूट देती है, और इन बाल सुलभ विशेषताओं को पूरी तरह खो न देना सिखाती है। और उन्हें इसे बचाए रखने की कोशिश करनी चाहिए।

यद्यपि बच्चों की कई विशेषताओं के प्रति हमारी प्रतिक्रियाएँ सच्ची होती हैं, पर हम अक्सर बच्चों को हीन मानकर या भावनात्मकता के कारण भी प्रतिक्रियाएँ करते हैं। उनके नन्हेपन, उनकी कमज़ोरियों, अटपटेपन, अज्ञान, अनुभवहीनता, अदक्षता, असहायता, परावलम्बन, विवेकहीनता, समय और सन्तुलन के अभाव के कारण हम उनके प्रति हेय व्यवहार करते हैं। भावनात्मक प्रतिक्रिया हम इसलिए करते हैं क्योंकि बच्चों के आनन्द, चिन्ताहीनता, निष्कपटता, पवित्रता, उनमें यौन भावनाओं का न होना, उनकी अच्छाई, उनकी आध्यात्मिकता और बोध आदि को लेकर हमारी खुद की बनाई हुई तमाम धारणाएँ होती हैं। पर सच्चाई यह है कि ये धारणाएँ बेवकूफी भरी होती हैं। बच्चे कोई खास खुश या बेफिक्र नहीं होते हैं। कई वयस्कों की ही तरह उनकी भी तमाम चिन्ताएँ होती हैं। और अक्सर ये दुश्चिन्ताएँ ठीक वैसी ही होती हैं जैसी वयस्कों की हों। उनकी ऊर्जा, जिज्ञासा और जीवन से उनका जुड़ाव उन्हें खुश बनाता है। वे चिन्तन-मनन में अधिक समय नहीं गंवाते। और आध्यात्मिकता से तो कोसों दूर होते हैं। वे अमूर्त नहीं, ठोस होते हैं। वे पशु सम और इन्द्रियार्थवादी होते हैं। जो उन्हें अच्छा *लगता* है वही अच्छा है। वे आत्मकेन्द्रित और स्वार्थी भी होते हैं। खुद को किसी दूसरे व्यक्ति के स्थान पर रखकर उसकी स्थिति की कल्पना कर पाने की क्षमता उनमें नहीं होती है। इस कारण वे कई बार बेखयाल तथा क्रूर तक हो जाते हैं। पर वे दयालु हों या क्रूर, उदार हों या लालची, यह वे उस क्षण के आवेग के कारण होते हैं, किसी योजना या सिद्धान्तवश नहीं। वे बर्बर और आदिम होते हैं। और हम ऐसे लोगों के प्रति भी अक्सर बड़े भावनात्मक हो जाते हैं। ऐसी कई चीज़ें होती हैं (जो स्कूली विषयों में नहीं आतीं और जिन्हें “सिखाया” नहीं जा सकता) जो बच्चे बिल्कुल नहीं जानते हैं। इन्हें वे समय के साथ जीवन जीते हुए सीखते हैं और उन्हें सीखने-जानने पर वे बेहतर भी बनते हैं। बढ़ना, या क्रम में बढ़े होना, हमेशा

या केवल, या आवश्यक रूप से, पतन या पराजय की प्रक्रिया नहीं होती। समय के साथ जो समझ और ज्ञान आता है वह वास्तविक भी हो सकता है। यही कारण है कि बच्चों में उन वयस्कों की सहज सत्ता के प्रति आकर्षण भी मिलता है जो उनके प्रति सच्चाई व सम्मान के साथ प्रतिक्रिया करते हैं।

कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि बच्चों के प्रति भावनात्मक प्रतिक्रिया करने में, जैसे वे हैं उन्हें उससे बेहतर मानने में हर्ज़ ही क्या है? हम किसी को ज़रूरत से ज़्यादा अच्छा तो मान भी कैसे सकते हैं? उन्हें अच्छा मानने से नुकसान क्या हो सकता है? कई वर्ष पहले लन्दन की एक दुकान में मुझे एक पुरानी पेपरबैक पुस्तक की प्रति मिली। पुस्तक का नाम था *नॉवेल ऑन यैलो पेपर*। लेखक थे स्टीवी स्मिथ। यह पुस्तक मेरी पसन्दीदा पुस्तकों में से एक बनी और आज भी है। हाल में उसे पढ़ते हुए, और एक खास परिच्छेद तलाशते समय एक अनुच्छेद पर गौर किया जिसे मैं बिलकुल भूल चुका था। जब पुस्तक को पहले पढ़ा था उस वक्त इस अनुच्छेद ने मेरे किसी सरोकार को छुआ नहीं था। अतः उस पर ध्यान भी नहीं गया होगा। पर इस बार उसने मुझ पर सीधा वार किया। यह अनुच्छेद वही बात कहता है जो मैंने बच्चों को “प्यारा-प्यारा” मानने और इस प्यारेपन के शोषण के सम्बन्ध में कही थी। इस भावनात्मक अतः अमूर्त तरीके से उन्हें देखना, उनसे इस तरह पेश आना भी एक प्रकार से निष्ठुरता और क्रूरता ही है।

....(जब मैं आठ वर्ष का था) एक परिचारिका मुझे पसन्द करने लगी। वह मुझे अपने घुटनों पर बैठाती। जब मेरा मन होता तो मैं उसकी कल्पना के खेल में भाग ले पाता था। पर उस वक्त भी मैं बेहद डरा हुआ होता था। मेरे प्रति उसकी भावनाएँ, जिन्हें मैं महसूस तो करता था पर समझ नहीं पाता था कि मुझे वे परेशान क्यों करती हैं, क्या ऊपरी तौर पर ठीक वैसी थीं जैसी मेरी माँ की? जी नहीं, जबकि वह भी मुझे गले लगाती थी, घुटनों पर बैठाती थी...। पर मुझे यह बात परेशान करती कि उसकी भावनाएँ इस कदर मनमानी, इतनी सतही और इतनी आकस्मिक हुआ करती थीं। मेरे प्रति उसकी भावनाएँ बिलकुल भी गहरी नहीं थीं। वे कुछ वैसी ही थीं जैसे अपने पालतू पिल्ले को थपथपाने, चिपकाने और लाड़ लड़ाने की होती हैं। मुझे उसका आचरण ठीक वैसे डर से भर देता था जैसे हिंसा भरती है। वे बेहद असुरक्षित, छिछली और अर्थहीन थीं। बाहरी तौर पर उनमें इतना साम्य था, पर वास्तव में इतनी दूरी, इतना छल था कि वे एक प्रकार की बर्बर महत्ता से भरी लगती थीं। मुझे इस अनुभव ने बेहद परेशान और दुखी किया और अन्दर तक डरा दिया।

एक दोपहर मैं सैकड़ों लोगों के साथ एक जूनियर कॉलेज के सभागार में था कि हमें बाहर से एक नन्हे बच्चे की चीख-पुकार सुनाई दी। सभागार में मौजूद लगभग प्रत्येक व्यक्ति मुस्कुराया या हँस पड़ा। सम्भव है कि यह नितान्त जायज़ प्रतिक्रिया हो क्योंकि एक छोटा बच्चा इतने सारे वयस्कों के तथाकथित रूप से महत्वपूर्ण विचारों में बिना कोई चेष्टा किए बाधा पहुँचा सका था। पर बात इतनी भर नहीं थी। इसके परे बात यह भी थी कि बच्चों की पीड़ा, उनकी भावनाएँ *वास्तविक* नहीं मानी जा रही थीं। उन्हें गम्भीरता से लेने की आवश्यकता तक नहीं थी। पर अगर हमें बाहर से किसी वयस्क की पीड़ा से रोने, नाराज़ होने, या दुखी होने की आवाज़ें आतीं तो हम मुस्कुराते या हँसते नहीं। हम विस्मयभरी चिन्ता या भय से ठिठक जाते। जब तक कि बच्चे का रुदन एक अनचाही बाधा, एक मुसीबत न हो, हमें बच्चों का रोना कुछ हास्यास्पद ही लगता है। हम सोचते हैं - लो फिर शुरू कर दिया। भाई, ये बच्चे तो हर बात पर मचलते और रोते हैं। पर बच्चों के रुदन में हास्यास्पद कुछ भी नहीं है। जब तक वह वयस्कों से अपने बचकानेपन या प्यारेपन को भुनाना नहीं सीख लेता, एक छोटा बच्चा अकारण ही या हल्की-सी बात पर नहीं रोता। वह रोता है अपनी ज़रूरत, अपने डर या अपनी पीड़ा के कारण।

एक बार एक हवाई अड्डे में मैंने अपने से कुछ आगे एक सात-आठ साल की लड़की को चलते देखा। वह कालीन बिछी ढाल पर तेज़ी से बढ़ रही थी कि अचानक लड़खड़ाकर गिर गई। उसे चोट नहीं लगी थी और वह जल्दी ही खड़ी भी हो गई। मैंने पलटकर लोगों के चेहरों पर कृपा भरी मुस्कान देखी जिसमें “हाय! कितनी प्यारी-सी घटना घटी” का भाव पढ़ा जा सकता था। पर अगर कोई वयस्क गिर पड़ता तो वह हमें न हास्यास्पद लगता न प्यारा। हम उसकी चोट और लज्जा की चिन्ता करते।

भावनात्मकता से जो परेशानी है और जिस कारण भावनात्मकता हमें निष्ठुरता और क्रूरता की ओर ले जाती है वह है उसका अमूर्त और अवास्तविक होना। हम बच्चों के जीवन व सरोकारों और परेशानियों को कुछ यूँ देखते हैं मानो हम मंच पर अभिनेताओं को एक प्रहसन खेलते देख रहे हों। पर यह हम केवल तब तक करते हैं जब तक वह हमारे लिए मुसीबत नहीं खड़ी कर दे। और फिर, क्योंकि हमारे लिए उनकी भावनाएँ व उनकी पीड़ा न तो गम्भीर है, न वास्तविक, अगर हम उन्हें दुख पहुँचाएँ तो उसे भी वास्तविक नहीं मानते। हमारे हितां के संघर्ष में हर बार हम उनसे ही पीछे हटने की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि हम सोचते हैं कि केवल हमारी ज़रूरतें ही वास्तविक होती हैं। इसलिए जब वयस्क को बच्चे को चिपटाने या चूमने का आनन्द लेना होता है, जो बच्चे को अच्छा नहीं लगे या भयभीत करे, तो हम खुद से यह भी कह पाते हैं कि उसकी भावनाएँ तो अवास्तविक हैं। अतः उनकी उपेक्षा की जा सकती है। लोग

बच्चों से जीते-जागते गुड़े-गुड़ियों का सा आचरण करते हैं। जिन्हें मन न होने पर एक कोने में, नीचे या खिड़की से बाहर फेंका जा सकता है। तब “नन्हे देवदूत” हमारे लिए “नन्हे शैतान” बन उठते हैं।

उन प्रसन्न परिवारों में भी जहाँ बच्चे एक दूसरे से जलते नहीं हों, जहाँ वे सीमित ध्यान या अनुमोदन के लिए एक दूसरे से स्पर्धा नहीं करते हों बल्कि उनके आपसी रिश्ते दोस्ताना हों, वहाँ भी बच्चे अपने से छोटों को प्यारा-प्यारा नहीं मानते हैं। उनके प्रति भावनात्मक नहीं हो जाते हैं। सुखी परिवारों के बड़े बच्चे अपने से छोटे बच्चों के प्रति कोमल होते हैं, सावधानी बरतते हैं। पर इन बड़े बच्चों को स्वयं से छोटे बच्चों की शुद्धता और अच्छाई की न तो कहानियाँ कहनी पड़ती हैं, न वे थोथी कहानियों पर विश्वास करते हैं। वे बखूबी समझते हैं कि एक छोटा बच्चा उनसे आकार में छोटा होता है, अनाड़ी और अज्ञानी होता है। उसे अधिक मदद की ज़रूरत है और वह अधिकांशतः ज़्यादा हठीला और परेशान करने वाला भी होता है। क्योंकि बच्चे एक दूसरे को प्यारा-प्यारा नहीं मानते, वे हमें अपनी तुलना में एक दूसरे के प्रति अधिक कठोर नज़र आते हैं। वे मुँहफट होते हैं और माफ नहीं करते। पर उनकी यह साफगोई हम वयस्कों के बच्चों से पेश आने के तौर-तरीकों से कहीं कम नुकसानदेह होती है। इस तरीके में दूसरे बच्चे को एक सम्पूर्ण व्यक्ति के रूप में स्वीकार तो किया जाता है, भले ही उसे हमेशा या पूरी तरह सराहा न जाए।

जब बच्चों के प्रति हमारी प्रतिक्रिया प्यारेपन की होती है तो दरअसल हम उनकी वास्तविक या काल्पनिक ताकतों, उनके गुणों के प्रति प्रतिक्रिया न कर उनकी कमज़ोरियों के प्रति प्रतिक्रिया कर रहे होते हैं। क्योंकि उनकी कमज़ोरी हमें सत्तावान बनाती है या हमें श्रेष्ठ होने का भाव देती है। हम उन्हें अंशतः इसलिए प्यारा-प्यारा मानते हैं क्योंकि वे छोटे होते हैं। पर छोटा होने में प्यारापन कहाँ है? क्या हमें बौने प्यारे लगते हैं? कतई नहीं, इसलिए क्योंकि हम बौने के छोटेपन को एक ऐसी स्थिति के रूप में पहचानते हैं जो उसके लिए भार है। बच्चे भी यह बात ठीक से पहचानते हैं। वे अपने छोटेपन को लेकर भावनात्मक नहीं होते। वे तो छोटे होने के बदले बड़े होना ही पसन्द करते हैं और यथासम्भव जल्दी बड़े हो जाना चाहते हैं।

अगर बच्चे जीवन के प्रारम्भिक दो-तीन वर्षों में ही अपने बड़े आकार में आ जाते तो हमारी उनके प्रति क्या प्रतिक्रिया होती? हम उनसे कैसे निपटते? तब हम उन्हें अपने लाड़-प्रेम की वस्तु नहीं मान पाते। उन्हें अपना गुलाम या सम्पत्ति नहीं मान पाते। तब उन्हें लाचार, परावलम्बी, बचकाने बनाए रखने में हमारी कोई रुचि भी नहीं होती। क्योंकि वे शारीरिक रूप से बड़े हो जाते, इसलिए हम चाहते कि वे दूसरे अर्थों में भी बड़े हो जाएँ। और तब अपनी तरफ

से बच्चे भी जल्द से जल्द स्वतंत्र, सक्रिय और स्वावलम्बी बनना चाहते। और क्योंकि तब वे जीवित गुड्डे-गुड्डियों या पालतू जीवों के रूप में हमारे लिए निकम्मे सिद्ध होते, हम जल्द से जल्द बढ़ने में उनकी पूरी मदद भी करते।

कल्पना करें कि इंसानों के आकार में भी अगर उतना ही अन्तर होता जितना कुत्तों में होता है, और सामान्य वयस्क एक से सात फीट तक लम्बे होते। तब हम बच्चों के छोटेपन को शायद प्यारा-प्यारा नहीं मानते। तब आकार मात्र एक अवस्था, एक स्थिति भर होती, जैसे गंजापन या बहुत बालों वाला होना, मोटा या पतला होना होता है। ऐसे में किसी का नन्हा होना हमें कुछ भावनाओं को महसूस करने का, या उनकी विशेषताओं को लेकर पूर्वनिर्धारित निष्कर्षों तक पहुँचने का संकेत नहीं बन जाता। इससे न ही यह तय होता कि हमारे उनके साथ कैसे रिश्ते हों।

बच्चों की एक और विशेषता जो हमें उन्हें प्यारा-प्यारा मान मुस्कुराने या स्नेहमय आँखों से उन्हें देखने पर बाध्य करती है, वह है उनकी “निष्कपटता”। इससे हमारा क्या अर्थ है? आंशिक रूप से हमारा मतलब सिर्फ इतना भर होता है कि वे अज्ञानी और अनुभवहीन हैं। पर अज्ञानता तो आशीष नहीं, मात्र दुर्भाग्य है। बच्चे जिस प्रकार अपने आकार को लेकर भावनात्मक नहीं होते, उसी प्रकार अपनी अज्ञानता को लेकर भी भावनात्मक नहीं होते। वे अज्ञानता से बचना चाहते हैं। वे जो कुछ हो रहा है उसे जानना चाहते हैं। अगर वे माँग करें और अगर हमसे सम्भव हो तो अज्ञानता से निकलने में हमें उनकी मदद करनी चाहिए। पर बच्चों की निष्कपटता से हमारा अर्थ कुछ और भी होता है। वह है उनकी आशावादिता, उनका दूसरों पर भरोसा करना, उनका आत्मविश्वास, उनकी यह भावना कि पूरी दुनिया उनके सामने खुली पड़ी है। उनके सामने तमाम सम्भावनाएँ हैं। और यह कि जो वे नहीं जानते वे जान सकते हैं। जो वे नहीं कर पाते उसे सीख सकते हैं। ये गुण किसी भी व्यक्ति में वांछनीय हैं। पर जब हम इन सबको “निष्कपटता” का नाम दे देते हैं और उन्हें केवल बच्चों से जोड़ देते हैं, मानो वे इससे बेहतर जानने लायक हैं भी नहीं, तो यह केवल अपनी हताशा और नैराश्य को ढँकने का बहाना भर होता है।

आज बॉस्टन सार्वजनिक बाग में मैं कुछ शिशुओं को देख रहा था। ऐसा मैं अक्सर करता हूँ। वे चलना सीख रहे थे। एक समय था जब मैं उनके फूहड़पन, उनके असन्तुलन और टेढ़ी-मेढ़ी चाल को प्यारा माना करता था। पर अब मैंने इसे एक दूसरी दृष्टि से देखने की कोशिश की है। छोटेपन की ही तरह अनाड़ीपन में भी कुछ प्यारा-प्यारा नहीं होता। अगर किसी वयस्क को हम यूँ इतनी मुश्किल से, इतने अटपटे ढंग से चलते पाते तो हम उसे विकलांग मानते। हम उसके प्रयासों पर न मुस्कुराते, न हँसते और न ही ऐसा कर खुद

को दाद देते। बच्चों को देखते समय मन में ये विचार उठते रहे। मैं खुद भी जब किसी बच्चे को तन्मयता से काम करता देखता हूँ तो ठीक यही सोचता हूँ कि वह बेहद प्यारा लग रहा है। मैंने खुद को याद दिलाया कि “वह बच्चा प्यारा लगने की कोशिश नहीं कर रहा। वह खुद को प्यारा मान भी नहीं रहा है। वह तो पूरी गम्भीरता से काम कर रहा है। और यही चाहता है कि आप भी उसे गम्भीरता से लें।”

फिर भी बच्चों को चलना सीखते देखना बड़ा आकर्षक और उत्तेजक होता है। वे इतनी खराब तरह चलते हैं। चलना उन्हें इतना कठिन लगता है, और उनके लिए तो काफी खतरनाक-सा काम भी होता है। हम जानते हैं कि अगर वह लुढ़क जाए तो खास हानि नहीं होगी। पर वह यह तथ्य पक्की तरह नहीं जानता। साथ ही उसे गिरना खास अच्छा भी नहीं लगता। अधिकांश वयस्क और कई बड़े बच्चे भी अगर कोई काम इतने अनाड़ीपन से करें जितने अनाड़ीपन से नया-नया चलना सीखने वाला बच्चा करता है तो अपनी कोशिशें तुरन्त बन्द कर दें। पर शिशु लगा रहता है। वह कृतसंकल्प होता है, कठोर मेहनत करता है और खूब-खूब उत्तेजित होता है। चलना सीखने की कोशिश उसके लिए केवल कोशिश और संघर्ष भर नहीं होता। वह उसके लिए एक आनन्ददायक साहसिक अभियान होता है। मैं बच्चे के इस साहसिक उपक्रम को देखते हुए, जो सिर्फ इसलिए एक चमत्कार से कम नहीं हो जाता क्योंकि हम सब भी चलना सीख चुके हैं, उसके संकल्प, साहस और आनन्द के प्रति संवेदनशील बनने की कोशिश करता हूँ। कोशिश रहती है कि उसके छोटेपन, उसकी कमज़ोरी या अकुशलता पर ध्यान न दूँ। मेरे अन्दर की कोई आवाज़ अगर मुझसे कहती है, “अरे, इस प्यारे से बच्चे को उठा लेना, उसे भींचकर गले से चिपटाना और ज़ोरदार चुम्बन देना कितना अच्छा होगा”, तो मेरा उत्तर होता है, “नहीं, नहीं कतई नहीं। बच्चा बिलकुल नहीं चाहता कि उसे उठाया, चिपटाया या चूमा जाए। वह तो बस चलना चाहता है। इस वक्त उसका इस बात से कोई वास्ता नहीं है कि यह मुझे कितना पसन्द आ रहा है। वह मेरे या पास खड़े अपने माता-पिता के अनुमोदन या आनन्द के लिए नहीं चल रहा। यह प्रदर्शन सिर्फ उसका है। उसे हमारे प्रदर्शन का कलाकार मत बनाओ। उसे अकेला छोड़ो ताकि वह अपना काम कर सके।”

बच्चों को हम सबसे प्यारा उस वक्त मानते हैं जब वे जो कर रहे होते हैं उसे पूरी गम्भीरता से करना चाहते हैं। हम मन ही मन बच्चे से कहते हैं, “तुम सोच रहे हो कि जो तुम कर रहे हो वह बड़ा महत्वपूर्ण है, पर हम जानते हैं कि ऐसा नहीं है। तुम्हारे जीवन में जो कुछ तुम गम्भीरता से लेते हो, उन सबकी तरह यह भी नितान्त गौण-सी चीज़ है।” जब बच्चा बड़ी सावधानी से मिट्टी के घर्ौंदे बना रहा होता है तो हम बड़ी कोमलता से मुस्काते हैं। हमें लगता है

कि मिट्टी के घरोंदे बकवास हैं और उसकी सारी मेहनत बेकार जाने वाली है (यद्यपि हम चाशनी भरी आवाज़ में उसे कहते हैं कि उसका घरोंदा बेहद खूबसूरत है)। पर वह यह नहीं जानता। वह अपनी अज्ञानता के कारण उसी गम्भीरता से काम करता चलता है। मानो उसका काम महत्वपूर्ण हो। हमारे लिए यह सोचना कितना सन्तोषप्रद होता है कि हम बेहतर जानते हैं।

हम बच्चों को उस वक्त भी बेहद प्यारा-प्यारा मानते हैं जब वे अपना अज्ञान या अपनी अदक्षता दर्शाते हैं। हमें उनकी निर्भरता और असहायता बड़ी कीमती लगती है। वे प्रेम की वस्तु होने के साथ सहायता की वस्तु भी होते हैं। जो बच्चे सच में दक्ष और बुद्धिमान होते हैं वे हमें इतने प्यारे भी नहीं लगते। हमें वे उलझन में डालते हैं। हमें उनसे खतरा महसूस होता है। हमें बच्चों का ऐसा व्यवहार पसन्द नहीं आता जो हमारे लिए उन्हें हीन दृष्टि से देखना असम्भव बना दे। और यह बात स्कूल के लिए तो खासतौर से सच है। जिस बच्चे के विषय में उसके शिक्षक यह जानते हैं कि वह वह सब भी जानता है जो शिक्षक नहीं जानते, सच में मुश्किल में फँसता है। हम यह भी जानते हैं कि स्कूलों और पहली जमात के शिक्षकों को उन बच्चों से नफरत होती है जो स्कूल में दाखिल होते समय पढ़ पाते हों। ऐसे में स्कूल उसे कैसे सिखा पाएगा? जब हम किसी छोटे से बच्चे को कोई काम बड़ी अच्छी तरह करता पाते हैं, तो अक्सर हमारी प्रतिक्रिया होती है कि उसमें कुछ गड़बड़ है। वह अकाल परिपक्व है, वह बड़ा अजीब-सा है, किसी दिन ज़रूर किसी मुसीबत में फँसेगा, “वह वयस्कों का सा आचरण कर रहा है,” “उसका बचपन खो चुका है,” आदि-आदि। ठीक ऐसी प्रतिक्रिया वायलिन शिक्षक सुजूकी के निहायत काबिल छात्र-छात्राओं को सुनकर कई लोगों की हुई थी। मुझे याद आता है कि समाजशास्त्री ओमार.के.मूर ने मुझे बताया था कि जब उन्होंने पहले-पहल यह साबित किया कि अगर तीन साल के बच्चों को टाइपराइटर और अन्य उपकरण का उपयोग करने, उनके साथ प्रयोग करने की अनुमति दी जाए, तो वे शीघ्र ही खुद से पढ़ना सीख लें (क्योंकि उनसे दृश्य तीक्ष्णता, समन्वय और मानसिक क्षमता की अपेक्षा ही नहीं रहती)। मूर को ढेरों नाराज़गी भरे पत्र मिले जिसमें कहा गया कि वे बच्चों के साथ दुर्व्यवहार कर रहे हैं।

बच्चों को अकुशल बने रहना उतना ही नापसन्द है जितना अज्ञानी बने रहना। वे उन सारे कामों को करना और बखूबी करना सीखना चाहते हैं जिन्हें वे बड़ों को करता देखते हैं। यही कारण है कि उन्हें स्कूल इतना निराश करते हैं। स्कूलों में कुछ भी महत्वपूर्ण करना सीखने का या वास्तव में कुछ करने का मौका भी उन्हें बिरले ही मिलता है। लगता है कि बचपन की पैरवी करने वाले संरक्षकों का बच्चों की अकुशलता में निहित स्वार्थ है जिसे वे अक्सर “बच्चे को बच्चा बने रहने देने” का नाम देते हैं।

### 13. बच्चे प्यारेपन को कैसे भुनाते हैं

एक बार एक आदमी ने मुझेसे कहा, “मेरे दो छोटे बच्चे हैं और मुझे वे बेहद प्यारे लगते हैं। मुझे उन्हें प्यारा मानने में कोई बुराई भी नज़र नहीं आती।” मैंने उससे कहा कि शायद प्यारा मानने के बावजूद वह जिस तरह जीता है और अपने बच्चों से जैसा आचरण करता है उसका कोई बुरा असर उन पर नहीं पड़ता हो। उसको उसके बच्चों के साथ देखे बिना इस विषय पर मैं कुछ भी बता नहीं सकता। फिर भी बच्चों को प्यारा-प्यारा मानने की वृत्ति बहुत खतरनाक है।

क्योंकि इससे अक्ल तो वह उन्हें अमूर्त दृष्टि से देखता है। यह अमूर्तता वास्तविक समझ, सहानुभूति और प्रेम की शत्रु है।

जब कभी कोई व्यक्ति किसी दूसरे को एक अनूठे इंसान के रूप में न देखकर उसे एक किस्म के इंसान का उदाहरण मानता है, जैसे उसे विख्यात व्यक्ति, काला, यौन प्रतीक, महान इंसान, कलाकार, सन्त या कुछ भी और मानकर देखता है, तो वह उस व्यक्ति को कमतर बना डालता है। और तब उनके बीच किसी प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध बनना भी असम्भव हो जाता है। यही हम बच्चों के साथ उस वक्त करते हैं जब हम उन्हें प्यारे-प्यारे, आराध्य या निष्कपट मान बैठते हैं। हम नज़रों के सामने खड़े बच्चे की जगह बचपन की उस कल्पना को ले आते हैं जो हमारे दिमाग में होती है। फिर हम उसी छवि से निपटते हैं। इस प्रकार का लेबल किसी पर चस्पाँ करते वक्त हम उसमें कुछ ऐसी जादुई विशेषताएँ लाद देते हैं जो कभी बुरी, तो कभी अच्छी होती हैं।

जिस समाज में शारीरिक सौन्दर्य की पूजा होती हो, जैसे हमारा समाज करता है, वहाँ हम महज़ व्यक्ति की दिखावट के आधार पर तमाम जादुई धारणाएँ बना लेते हैं। पुरुष अक्सर उन महिलाओं के साथ ऐसा करते हैं जिन्हें वे बेहद सुन्दर मानते हैं। एक सुन्दर युवती को देख नौजवान यह मान लेते हैं कि साधारण नज़र आने वाली लड़कियों की तुलना में वह अधिक तेज़, अधिक मस्त, कोमल, स्नेहमई और भावनात्मक है। जबकि सम्भवतः सच इसका विपरीत भी हो सकता है। सौन्दर्य किसी महिला के चरित्र को जितना अच्छा बना सकता है उतना ही बुरा भी। अगर वह नौजवान उस सुन्दर लड़की से



प्रेम सम्बन्ध बना ले और पाए कि वह दूसरों से अधिक बेहतर नहीं है तो सम्भवतः उसे निराशा हो। लगे कि उसे छला गया है। वह शायद पीड़ा से कह उठे कि “मेरा विश्वास था कि तुम दूसरों से बेहतर हो। तुमने मेरी आशाओं को ध्वस्त कर डाला!”

कुछ ही समय पहले *सायकॉलजी टुडे* नामक पत्रिका में एक अध्ययन के परिणाम छपे। अध्ययन में लोगों को कुछ अपरिचित लोगों के चित्र दिखाए गए और उनसे पूछा गया कि वे उस व्यक्ति के चरित्र के विभिन्न पक्षों के बारे में क्या सोचते हैं। (अगर परीक्षण में शामिल किन्हीं लोगों ने यह कहा हो कि यह अनुरोध निहायत बेहूदा है तो आलेख में इस बात का कोई जिक्र नहीं किया गया था।) जैसी उम्मीद की जा सकती है लोगों ने अधिक आकर्षक दिखने वालों के सम्बन्ध में सकारात्मक अटकलें लगाईं। दूसरे परीक्षणों और लम्बे अनुभव ने भी यह सिद्ध किया है कि यह बात शिक्षकों के लिए भी सच है। अमूमन वे मानते हैं कि सबसे सुन्दर बच्चे अधिक कुशाग्र, हुनरमन्द, बेहतर व्यवहार करने वाले और स्वाभाविक नेतृत्व क्षमता वाले होते हैं। वे ऐसे बच्चों से अधिक उम्मीदें रखते हैं। और उन्हें अधिक आसानी से माफ भी कर देते हैं। यह बात स्कूल जाने वाला हरेक बच्चा जानता है कि प्यारे लगने वाले बच्चे अपनी तमाम हरकतों के बावजूद सज़ा या डॉट से बच जाते हैं। जबकि साधारण शकल-सूरत वाले बच्चों के साथ ऐसा नहीं होता।

बच्चे को एक अमूर्त आदर्श में बदल देने के बाद कई माता-पिता व शिक्षक उसे ह्यूस्टन स्थित रॉकेट नियंत्रण केन्द्र से चन्द्रमा की ओर दागे गए किसी रॉकेट के रूप में देखते हैं। वे बच्चे के लिए एक प्रक्षेप-पथ (जीवन) पहले से मानचित्रित कर लेते हैं। इसके बाद वे लगातार जाँचते हैं कि वह सही पथ पर बढ़ रहा है या नहीं। ज़रा अन्देशा हुआ कि वह पथ से भटक रहा है कि वे विचारने लगते हैं कि उसे पथ पर बनाए रखने के लिए किसी रॉकेट (मनोवैज्ञानिक) से प्रोत्साहन देना चाहिए या किसी रॉकेट (शिक्षण विशेषज्ञ) से धक्का लगाना चाहिए। क्या वह सही पथ पर है? क्या उसकी रफ्तार समय सारिणी के अनुसार है? क्या उसका दृष्टिकोण सही है?

कुछ दूसरों का कथन है कि एक बच्चे को उसी रूप में देखना-समझना चाहिए जो वह वर्तमान में कर रहा है, सोच रहा है और महसूस कर रहा है। जिस हद तक उपरोक्त कथन का अर्थ “बच्चे सम्भावित वयस्क नहीं हैं, वे तो बच्चे हैं” से लिया जाता है, मैं इस कथन से सहमत हूँ। परन्तु दुर्भाग्य से बाल्यावस्था के कई हितैषी दरअसल इस कथन का अर्थ इससे कहीं अधिक मानते हैं। बच्चों को लेकर उनकी सुनिश्चित धारणाएँ हैं। और वे बड़ी आसानी से उस हेय दृष्टिमय भावनात्मकता में बहक जाते हैं जिसका मैं वर्णन कर चुका हूँ। अक्सर

ये वे ही लोग होते हैं जो हमें बताते हैं कि बच्चे वयस्कों की तुलना में कहीं अधिक बुद्धिमान, सुन्दर, मानवीय (जो उनका पसन्दीदा शब्द है), प्रसन्नचित्त, सदाचारी, शुद्ध तथा सन्तुलित होते हैं। ऐसे कथन बच्चों को हतोत्साहित करते हैं या हानि पहुँचाते हैं। ऐसा कोई व्यक्ति जो छोटा-सा, शक्तिहीन, अज्ञानी, चिन्ताग्रस्त और भ्रमित हो यह सुनना पसन्द नहीं करेगा कि यही उसके जीवन का श्रेष्ठतम समय है।

यह सब लिखने के पहले मैं बॉस्टन सार्वजनिक बाग में अप्रैल की सुबह की खिली धूप में टहलकर लौटा हूँ। वहाँ मैंने कई माताओं को अपने नन्हे बच्चों के साथ देखा था। इन्हें हम अमूमन तुमककर चलने वाले स्तर के बच्चे कहते हैं। उनके उत्साह और ऊर्जा, आसपास की दुनिया से मिलने वाले उनके आनन्द को देखते हुए मैंने सोचा कि अगर प्रकृति ने ऐसा कोई जीव बनाया होता जो ताउम्र तीन या चार वर्ष के बच्चे के समान स्वस्थ व आत्मविश्वासी होता, तो प्रकृति ने दुनिया का सर्वश्रेष्ठ पालतू जीव रच डाला होता। यह सच है कि ऐसा प्राणी दूसरे पालतू पशुओं की तरह सक्रिय या लालित्य लिए नहीं होता, पर वह उनसे कहीं अधिक बुद्धिमान और प्रशिक्षित करने योग्य होता और हमें तरह-तरह से खुश कर पाता। अगर ऐसे स्थाई रूप से बच्चे रूपी महापालतू जीव सच में होते तो उनसे ऐसा व्यवहार भी उचित ही होता। किन्तु नन्हे शिशु हमेशा ही तीन साल के कोमल, प्यारे-प्यारे, चिपटाने योग्य, परावलम्बी जीव नहीं बने रहते। उनके सामने उनका अपना जीवन होता है जिसमें वे तमाम रूप धरते हैं। अतः हमें कोई अधिकार नहीं कि हम शुरु में उनसे ऐसा व्यवहार करें जिससे कि उनके किसी भी भावी रूप को कोई क्षति पहुँचे या वह रूप कमतर बन जाए। “बच्चे तो बच्चे हैं, वयस्क नहीं” वाला कथन दोधारी तलवार-सा है। वह हमें एक भूल से निकालता है तो दूसरी में पहुँचा भी सकता है। इसलिए क्योंकि बच्चा “बालक” भी है और भावी वयस्क भी। ज़ाहिर है कि ऐसे में हमें यह अधिकार भी नहीं कि हम उससे ऐसा व्यवहार करें मानो *वर्तमान में जिस व्यक्ति के रूप में वह है उसके अतिरिक्त उसका कोई रूप होगा ही नहीं।* अगर यह सोचना गलत है - और मैं सहमत हूँ कि यह गलत है - कि हम केवल उसके भविष्य की चिन्ता करें, तो यह मानना भी उतना ही गलत होगा कि उसका कोई भविष्य है ही नहीं।

चौथे दशक के अन्तिम भाग में किसी ने एक विज्ञान गल्प लिखा था। इसमें बच्चे रूपी पालतू जीव थे। इन्हें लेखक ने न्यूट्रॉइड का नाम दिया था। एक ऐसी दुनिया जिसमें आबादी इस कदर बढ़ गई थी कि सरकार कुछ ही बच्चों को पैदा करने की अनुमति देती थी। वैज्ञानिकों ने उन लोगों के सुकून के लिए न्यूट्रॉइड ईजाद किया जो बच्चे चाहते थे। अर्थात् जिन्हें एक अदद बालसम

प्रेम वस्तु की ज़रूरत थी। आज मुझे यह लगने लगा है कि जो लोग इस बात की पैरवी करते हैं कि हमें बच्चों को भावी वयस्कों, भावी चिकित्सकों, वकीलों, उद्योगपतियों आदि के रूप में नहीं देखना चाहिए, वे शायद यह भी कहना चाहते हैं कि हमें उनसे न्यूट्रॉइडों का सा व्यवहार करना चाहिए। यह स्थिति अगर बद्तर नहीं तो बुरी तो है ही।

जब बच्चों को लेकर हमारी पूर्वमान्यताएँ होती हैं, और हम उन्हें भावी सफल वयस्कों या निष्कपट आत्माओं (न्यूट्रॉइड) के रूप में देखते हैं तो हम हमेशा यह जाँचते रहते हैं कि वे हमारे विचारों से कितना मेल खाते हैं। जब वे उस चरित्र को जीते हैं जो हमने उनके लिए लिख रखा है तो हम बेहद प्रसन्न होते हैं; पर जब वे ऐसा नहीं करते तो हम चिन्ताग्रस्त, निराश या क्रोधित हो जाते हैं। इस नज़रिए की भर्त्सना करना उस समय आसान होता है जब यह ऐसे माता-पिता का हो जो अपने बच्चों के विषय में बेहद महत्वाकांक्षी हों, जो अपने बच्चों को सफलता की दिशा में धकियाते हैं ताकि वे उसका श्रेय स्वयं ले सकें और यँ अपने जीवन का औचित्य भी सिद्ध कर सकें। पर अमूर्त आदर्श से तुलना करने की वृत्ति उन लोगों में भी विद्यमान होती है, अलबत्ता उसका रूप कुछ भिन्न होता है, जो अपने बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते हैं।

जब हम बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते हैं तब हम उनके प्यारेपन का उपयोग खुद में एक ऐसी भावना जगाने के लिए करते हैं जो हमें सुख देती है और उन पर गर्व करने का मौका देती है। यह बात अपने आप में ही काफी घटिया है। किन्तु बात इससे भी आगे बढ़ती है, और बच्चे का यह शोषण आपसी शोषण का रूप ले लेता है। जब हम बच्चे का शोषण करते हैं तो हम उसे हमारा शोषण करना भी सिखाते हैं। हम उसके प्यारेपन का शोषण करते हैं और वह हमारी इस ज़रूरत का शोषण करता है कि वह हमें प्यारा लगे। वह काफी छुटपन में ही सीख लेता है कि जब वह हमसे कुछ खास तरह का व्यवहार करेगा तो हम प्रसन्न होंगे और जब वह ऐसा नहीं करेगा तो आहत या नाराज़। अगर यह बात महज़ ऐसे आचरणों से सम्बन्धित होती जैसे खाना खा लेना, चीज़ें न तोड़ना, या बिलौटी की पूँछ न खींचना तो शायद इसमें खास हानि भी नहीं थी। परन्तु अमूमन मामला इतना सीधा-सरल नहीं होता। बच्चा यह तो समझ लेता है कि हम उससे कुछ उम्मीद रखते हैं, कुछ चाहते हैं, पर वह उम्मीद दरअसल है क्या, इस बारे में वह अनिश्चित रहता है। अगर वह बेहद मजबूत और स्वावलम्बी हो तो शायद वह इस मसले पर अधिक सोच-विचार न करे। पर अगर वह ऐसा नहीं है तो वह यह जानने की कोशिश ज़रूर करेगा कि जो खेल वयस्क उसके साथ खेलना चाहते हैं, उसके गुर क्या हैं।

वयस्क बच्चे का उपयोग एक प्रेम वस्तु के रूप में चाहते हैं। वे चाहते हैं कि

बच्चा उस आदर्श प्यारे से बच्चे का चरित्र निभाए। पर अक्सर वयस्क इससे भी कुछ अधिक चाहते हैं। जो व्यक्ति यह कहता है कि वह बच्चों से बेहद प्यार करता है, दरअसल वह केवल या वास्तव में यही कहना चाहता है कि उसे बच्चों से प्यार की दरकार है। वह शायद ठीक उसी प्रकार आलोचना रहित, माँग रहित, बिना शर्तों के सम्पूर्ण प्रेम की चाहत रखता है जो किसी शिशु को अपनी माँ से चाहिए होता है। शायद वह भूमिका की अदला-बदली चाहता है जिसमें वह स्वयं बच्चा बन जाए और बच्चा अभिभावक। उनसे वह कुछ ऐसा चाहता है जो उसे किसी ने दिया ही नहीं है। सम्भव है कि वह बच्चे में अपने सपनों के आदर्श प्रेमी को तलाश रहा हो।

ऐसी स्थिति में एक अदृश्य सत्ता संघर्ष शुरू हो सकता है। जब बच्चा यह समझ ले कि वयस्क को उससे क्या चाहिए, तो वह ऐसा भी कर सकता है कि वह वयस्क को वह दे ताकि उसे बदले में इसका पुरस्कार मिले। या फिर वह यह जानने के लिए कि आगे क्या होता है, वयस्क को वह न देने का रास्ता अपनाए जो उसे चाहिए। वह तब इसी के साथ लुकाछुपी का खेल शुरू कर सकता है। अगर बच्चे को प्रेम करने के लिए एक अदद वस्तु की बेहद ज़रूरत है तो वह इसे न पाने पर विनती करेगा, लालच देगा, सौदेबाज़ी करेगा। यहाँ तक कि धमकाएगा भी। और जल्द ही बच्चा यह भी सीख लेगा कि वह वयस्क की ज़रूरत पूरी करने में जितनी देर करेगा, उसे उतना ही ज़्यादा फायदा हो सकता है। कम से कम उस हद तक तो वह जा ही सकेगा जिसके बाद वयस्क यह खेल खेलना बन्द कर दे। बच्चा इस हद को कहाँ तक धकिया सकता है? जो वयस्क बच्चे से एक मुस्कान चाहता हो, उसके साथ खेलना चाहता हो, उसे कब तक रोका जा सकता है? यह हिसाब-किताब और सौदेबाज़ी का खेल काफी हद तक अवचेतन होता है। और कई भावनात्मक स्तरों या अनुमानों पर आधारित भी। पर अगर यह खेल लम्बे अर्से तक चले और बच्चा इन सौदेबाज़ी के खेलों से खुद को बचा न सके तो, एक दूसरे की ज़रूरतों का यह पारस्परिक शोषण निश्चित रूप से उसके चरित्र को नष्ट करेगा।

ऐसा प्यारा बच्चा जल्दी ही खुद द्वारा की जाने वाली सारी चीज़ों को किसी खास तरह के नतीजे के लिए करना सीख लेता है। कम से कम वयस्कों के साथ। वह स्वचेत, मक्कार, हिसाबी और चालबाज़ बन जाता है। दूसरे उसे किस नज़र से देखते हैं वह इस पर ध्यान देने लगता है और अपने बारे में दूसरों के मत को महत्व देने लगता है। एरिक फ्रॉम के शब्दों में वह “बाज़ारोन्मुख” बन जाता है। वह अपने व्यवहार, अपने व्यक्तित्व, यहाँ तक कि स्वयं को भी पुरस्कारों के बदले बेच डालेगा। और तो और प्रशंसा पर उसकी निर्भरता बढ़ती जाएगी। जिस तरह के प्रशंसालोभी हम स्कूलों में बनाते हैं, वह ठीक वैसा ही

बनेगा। कई बच्चे स्कूलों में आने के काफी पहले ही ये गुर सीख लेते हैं। मैं अक्सर सार्वजनिक स्थलों पर बच्चों को वयस्कों के लिए इसी प्रकार का नकली विनय, प्यारी-प्यारी मुस्कानें, झूठी हँसी का प्रयोग करते देखता हूँ। ऐसा बच्चा उन अर्थों में मानव सम्बन्धों में माहिर बन जाता है जिनमें मानवीय रिश्तों को एक स्पर्धा के रूप में देखा जाता है। ऐसी स्पर्धा जिसमें वह यह देखता है कि कौन किसका ज़्यादा से ज़्यादा फायदा उठा सकता है।

मेरी कक्षा में एक दस साल की लड़की कुछ ऐसे ही पली-बढ़ी थी। लोगों ने मुझे बताया कि छुटपन में वह एक नृत्यशाला में जाया करती थी। वहाँ नन्हे बच्चों को खूबसूरत परिधानों में सजाकर उनसे वयस्कों के लिए प्रदर्शन करवाया जाता था। अभी उसी रोज़ मैंने बॉस्टन ग्लोब में ऐसी ही एक जगह - आर्ट लिनलैटर के “यंग वर्ल्ड” - के बारे में एक आलेख पढ़ा:

...निदेशक महोदय अपनी मेज़ के पीछे सजे फ्रेम में मँढ़े चित्रों की गैलरी की ओर बढ़ते हैं। वे हरेक चित्र की ओर संकेत कर उसमें निहित “हमारी लड़कियों” की कथा सुनाते हैं। ये लड़कियाँ विभिन्न नृत्य प्रदर्शनों के दौरान चटकीले, सलमे-सितारे जड़े परिधानों में सज्जित हैं। “हमारी बच्चियों में इतना आत्मविश्वास इसलिए है क्योंकि हम उन्हें हमेशा प्रेम देते हैं। हमारा उनके प्रति व्यवहार कोमल होता है। सभी नृत्य शिक्षिकाएँ व शिक्षक ठीक यही करते हैं। मुझे प्यार से उनका सिर थपकाना, गाल या कान खींचना अच्छा लगता है। मैं इन नन्ही परियों के सामने पिघल जाता हूँ।” उनका कहना था कि अगर कोई महिला यह कहती है कि “मैं अपनी नन्ही बिटिया के लिए क्या कर सकती हूँ” तो मैं उन्हें बताता हूँ कि मैं उनकी बिटिया को, खासकर अगर वह शर्मीली हो, हज़ार लोगों के सम्मुख मंच पर खड़ी कर सकता हूँ, जहाँ वह बेहिचक एक सुरीले पंछी की तरह गीत गा सकती है। वह इतना सुन्दर गाएगी, इस कोमलता से नाचेगी कि उसके माता-पिता, शिक्षक और निदेशक तक आँसुओं से भीग उठेंगे। [मेरी टिप्पणी: अखबार में छपी इस कथा की तर्ज़ में ऐसा कुछ नहीं था जो यह संकेत देता कि लेखक को इस सब में कुछ आलोचना लायक लगा हो। आलेख की शैली वाहवाही की ही थी।]

मेरी कक्षा में पढ़ने वाली बच्ची बेहद खूबसूरत थी। हमारे स्कूल में पढ़ाने वाली सभी शिक्षिकाओं और शिक्षकों ने मुझे बताया कि वह बेहद प्यारी है और मुझे भी बड़ी अच्छी लगेगी। मैंने पाया कि वह बेहद दुखी, क्रोधित, अप्रिय, स्वयं से घृणा करने वाली और स्वयं का विनाश करने वाली बच्ची थी। ज़्यादातर

समय वह ऊँची आवाज़ में दूसरे बच्चों पर रौब जमाती रहती। और जब बच्चे इससे थक जाते, उसका कहा मानने से इंकार करते या उसकी उपेक्षा करते तो वह मुँह बिचकाती या मुँह फुला लेती और रो पड़ती। मैं जैसे-जैसे उससे परिचित होता गया, मुझे साफ लगने लगा कि ताउम्र उसने ऐसा कोई सम्बन्ध जाना ही नहीं था जो पारस्परिक शोषण का न हो। शायद उसके सम्पर्क में आए सभी वयस्क, जैसे नृत्य निर्देशक, माता-पिता, अपने मन में स्नेह की ऊष्मा जगाने और प्रेमाश्रुओं से अपनी पलकें भिगोने के लिए उसके नन्हेपन और प्यारेपन का शोषण करते रहे हों। और वह बालिका भी इन विशेषताओं का उपयोग वयस्कों से जो पाना चाहती हो, उसे पाने के लिए करती रही होगी। लोगों से निपटने का उसे एक ही तरीका आता था - सम्मोहन का तरीका। और जब यह तरीका असफल हो जाता तो उसकी प्रतिक्रिया होती - आँसू और क्रोध। और अब जब वह प्यारी-प्यारी नहीं रही थी, मिठाई के शौक के कारण मोटी, आलसी और निष्क्रिय हो चुकी थी, सम्मोहन का अस्त्र अब काम नहीं करता था। पर उसके पास और कोई चारा ही नहीं था। उसे तो बस सम्मोहन ही आता था।

ऐसे बच्चे कैसे वयस्क बनेंगे? वे कैसा समाज बनाएँगे? दूसरों से अनुमोदन पाने की अपनी कभी सन्तुष्ट न होने वाली भूख को कैसे तुष्ट करेंगे?

कई लोग ऐसे धूर्त, कृत्रिम, सम्मोहक आचरण को “बचकाना” कहते हैं। यह तो शिशुओं का असम्मान है। शिशु “बचकाने” नहीं होते। कम से कम साल भर की उम्र तक वे बेहद गम्भीर होते हैं। वे हँसना-खिलखिलाना पसन्द करते हैं। पर जब हँस नहीं रहे होते तो संजीदा, स्पष्ट और बिलकुल प्रत्यक्ष होते हैं। वे साँठगाँठ करने वाले, सम्मोहक, चालबाज़ नहीं होते। हम कह सकते हैं कि अपने नन्हेपन और असहायता के बावजूद इस उम्र में वे बड़े होने के बाद जैसा आचरण करेंगे उसकी तुलना में अधिक बड़प्पन का आचरण करते हैं। पर तब उन्हें “बचकाना” व्यवहार सीखना पड़ता है। ऐसा व्यवहार कुछ बच्चे घर में सीखते हैं, तो कुछ स्कूलों में। दूसरी माताओं की ही तरह एक माँ ने अपनी बिटिया के ऐसे व्यवहार की चर्चा करते हुए मुझसे कहा कि उनकी बिटिया ने ऐसा कृत्रिम, नखराला और बेवकूफी भरा आचरण स्कूल जाने के बाद ही सीखा। उसने दूसरे बच्चों को ऐसा करते देखा, यह भी पाया कि अधिकांश शिक्षकों के साथ ऐसा आचरण काम करता है। साथ ही वह स्वयं इतनी चिन्ताग्रस्त रही कि उसे ऐसे आचरण की ज़रूरत लगी। ऐसे दबावों का सामना करते हुए अपनी ईमानदारी और साहस को बनाए रखना बच्चों के लिए कठिन होता है। साथ ही ईमानदार और साहसी बच्चों को अक्सर अड़ियल, डीठ और

उद्दण्ड कहा जाता है। और ज़्यादातर बच्चे कुछ समय बाद सीधे हो, लकीर के फकीर बन जाते हैं।

मैंने जिन सामान्यतः तेज़, सक्षम, मध्य-वर्गीय पहली जमात के लड़के-लड़कियों को पढ़ाया है उन्होंने इस तरह का “बचकाना” आचरण वयस्कों को छकाने के लिए, परेशानी से बचने के लिए या मनचाहा पाने के लिए सीखा था। जब कभी उन्हें मुझसे दबाव महसूस होता, उन्होंने अपना काम पूरा न किया होता या उन्हें समझ न आता कि मैं क्या चाहता हूँ या उन्हें लगता कि जो मैं चाहता हूँ वे कर नहीं पाएँगे, तो वे कुछ तुमककर चलने लगते। उनकी आवाज़ ऊँची या रुआँसी हो जाती और वे बचकानी “बालभाषा” का उपयोग करने लगते। सौभाग्य से उन्हें जल्दी ही समझ आ गया कि मुझे इससे अधिक खराब कुछ और लगता ही नहीं। उन्होंने अपनी चालों का मुझे पर इस्तेमाल करना बन्द किया। हाँ, वे कभी-कभार मुझे छेड़ते ज़रूर हैं।

संक्षेप में, बच्चों को प्यारा-प्यारा मानते वक्त हम उन्हें अमूर्त बनाते हैं। एक आदर्श छवि का जामा पहना देते हैं। उन पर फैसले सुनाते हैं। उनका शोषण करते हैं। और तो और उन्हें हमारा और एक-दूसरे का शोषण करना भी सिखाते हैं। तब वे मुस्कानों और पुरस्कारों के लिए खुद को बेचना भी सीखते हैं। यह उनके लिए और हमारे साथ उनके रिश्तों के लिए हर तरह से खराब है।

## 14. प्यार हर चीज़ का उपचार नहीं हो सकता

ऐसे स्थानों में भी जहाँ बच्चों का अपने जीवन पर काफी नियंत्रण होता है - जैसे स्कूलों, शिविरों, खेल के मैदानों में - वहाँ भी एक खास किस्म के बच्चे से परेशानी होती है। ऐसे बच्चे से जो दूसरों को परेशान करे, छेड़े, गलतियाँ निकाले, उन्हें जाँचे, धौंस जमाए या चोट पहुँचाए। जॉर्ज डेनिसन ने अपनी पुस्तक *द लाइव्स ऑफ विल्ड्रन* में फर्स्ट स्ट्रीट स्कूल के एक ऐसे ही बच्चे का ज़िक्र किया है। बच्चे का नाम था स्टैनली। वह लगभग बारह साल का था और जहाँ कहीं भी गया था, हमेशा कठिनाइयों में ही उलझा था। फर्स्ट स्ट्रीट स्कूल के शिक्षकों को अधिकारियों ने कहा कि अगर स्टैनली उनके स्कूल में नहीं जमता तो उसके लिए कोई दूसरा रास्ता बचेगा ही नहीं। और उसे किसी तरह के बन्दीगृह में ही भेजना पड़ेगा। स्कूल के दूसरे बच्चों ने वयस्कों से बार-बार अनुरोध किया कि स्टैनली को दाखिला न दिया जाए क्योंकि वह उनके स्कूल को तोड़-फोड़ देगा। किन्तु वयस्कों ने स्टैनली को दाखिल किया, इस उम्मीद में कि स्कूल उसकी मदद कर सकेगा। पर बच्चों का अन्दाज़ सही था। स्टैनली को स्कूल वह मदद नहीं दे पाया जिसकी उसे ज़रूरत थी (अगर यह उसकी ज़रूरत थी तो)। और जब तक उन्होंने स्वयं को इतना कठोर बनाया कि वे स्टैनली को बाहर निकालें, स्टैनली ने उस स्थान को लगभग पूरी तरह नष्ट ही कर डाला।

हर्ब स्निट्ज़र अपनी पुस्तक *टुडे इज़ फॉर विल्ड्रन, नम्बर्स कैन वेट* में ऐसे ही चार उद्दण्ड लड़कों का ज़िक्र करते हैं। हर्ब लूइस वैडहैम स्कूल में पढ़ाते थे और उन चार लड़कों का नाम था स्टीव, डॉनल्ड, टिम तथा जेसन। स्टीव एक ऐसा लड़का था जिसे न कोई प्रेम करता था, न चाहता था। गोल-मटोल स्टीव सबके मज़ाक का निशाना था और जैसा अक्सर होता है वह खुद भी दूसरों के साथ क्रूरतम मज़ाक करता था। डॉनल्ड चिन्तित माता-पिता द्वारा लगातार धकेला जाने वाला तेज़-तर्रार, पर आकार में छोटा लड़का था। वह अपने कृत्यों से उस स्नेह और अनुमोदन को दूर धकेल देता था जिसकी उसे ज़रूरत और इच्छा रहती थी। उसमें उस वस्तु का अभाव था जिसे एरिक फ्रॉम “अन्तःशक्ति” (पोटेन्सी) का नाम देते हैं। इस कमी को पूरा करने की कोशिश में वह दूसरों पर रौब जमाने की कोशिश करता था। टिम एक दुबला-पतला, बेढंगा-सा



लड़का था जिसकी माँ “...बेहद व्यावहारिक सोच वाली थी। तीन बड़ी बहनें थीं। और पिता थे, जो मौजूद होते हुए भी अधिकतर नामौजूद रहते थे, क्योंकि वे बेहद कल्पनाशील, सफल और कटिबद्ध वैज्ञानिक थे। वे ‘एब्सेंट माइन्डेड प्रोफेसर’ की कहावत को चरितार्थ करते थे।” संक्षेप में टिम एरिक एरिकसन के इस कथन का एक जीवित उदाहरण था कि कई बच्चे खुद को न के बराबर महसूस करने के बदले एक खराब या मृत व्यक्ति बनना पसन्द करते हैं। और जेसन छह आतंकवादियों के गिरोह का सरगना था। उसे क्या सालता था यह हमें कभी पता ही नहीं चला। उसकी समस्या जो कुछ भी रही हो, वह हमेशा दूसरे बच्चों का जीना हराम किए रहता था। नीचे दिए गए उद्धरण में कुछ बच्चे स्कूल की बैठक में जेसन और दूसरे दादाओं की चर्चा कर रहे हैं :

मुझे लगता है धौंस जमाकर हम दूसरों को बलि का बकरा बनाते हैं ताकि खुद बच जाएँ।

पर बलि के बकरे की दरकार आखिर क्यों है?

लगता है हमारी ही तरह, ये सारे दादा यहाँ आने के पहले कहीं और दूसरों के हाथों बलि का बकरा बने होंगे। सो यहाँ भी उन्हें इसी बात का डर रहा होगा।

अगर उन्हें यह महसूस ही न होता हो कि कोई दूसरा उनकी परवाह या उनसे स्नेह करता है...।

ऐसे इंसान से कोई स्नेह भला कैसे करे जो हमेशा आपको ठोकता-पीटता हो या आपको धमकाता हो?

खैर तुम इसका नाटक तो कर ही सकते हो। यानी जब वे किसी दूसरे को मारें-पीटें तो पास खड़े हँस सकते हो, या उन्हें रुला सकते हो। अगर तुम यह नाटक करो कि तुम उनके पक्ष में हो तो शायद अगली बार तुम बख्श दिए जाओ।

मैं तो उन्हें आते देखते ही दूर भागता हूँ (एक छोटा बच्चा)।

हँसी और तब आक्रोश:

मुझे तो इसमें हँसने की कोई बात नहीं लगती। मुझे तो यह बड़ा दुखद लगता है। मतलब उन दादाओं के लिए बुरा लगता है। लोग उन्हें पसन्द करने का नाटक करते हैं, ताकि उनकी पिटाई न हो, या भागकर छिप जाते हैं, या बिलकुल सहमकर खड़े हो जाते हैं और मनाते रहते हैं कि दादाओं की नज़र उन पर न पड़े। यह सच में दुख की बात है। क्या पता अगर उन्हें यह विश्वास हो जाए कि

हम सच में उन्हें पसन्द करना चाहते हैं, तो क्या हो? क्या इससे फायदा नहीं होगा?

आखिरकार वे भी तो समुदाय का ही हिस्सा हैं।

में वास्तव में उन्हें नापसन्द भी नहीं करता हूँ।

हम सब जो कहना चाह रहे हैं वह शायद यह है कि दरअसल हम उनकी परवाह करते हैं। उन्हें यह नहीं लगना चाहिए कि हम सिर्फ अपनी ही परवाह करते हैं। हमें सचमुच उनकी परवाह है और इसलिए यह बैठक बुलाई गई है ताकि हम उनकी मदद कर सकें। तो क्या इस बात से मदद नहीं मिलेगी, मेरा मतलब है यह जानकर कि हम क्यों मिल रहे हैं...। [पृष्ठ 142]

भूल करने वालों के प्रति यह नज़रिया बड़ों या वयस्कों के दृष्टिकोण की तुलना में कहीं अधिक माफ करने वाला और उदार है। फिर भी लगभग सालभर बाद बच्चों ने जेसन को बाहर निकालने के पक्ष में मत दिए। पर जेसन की अपने सहपाठियों द्वारा दर्शाए गए सरोकार के प्रति क्या प्रतिक्रिया रही? उसने बच्चों से कहा कि वह हर्ब स्निट्ज़र पर ज़ोरदार हमला करना चाहता है और अगर वह ऐसा कर पाए तो वह शायद धौंस जमाना छोड़ सके।

कुछ साल पहले क्लॉड क्रौफोर्ड नाम का मेरा एक मित्र डगलस, मिशिगन की एक सरकारी प्राथमिक शाला का प्रधानाचार्य था। वहाँ वह एक कार्यक्रम का अध्यक्ष भी था जो उस समय तक एक सफल कार्यक्रम के रूप में चला जब तक कि दक्षिण पन्थी अल्पसंख्यकों के एक संगठन ने उसे खत्म नहीं कर दिया। ये अल्पसंख्यक एक परम्परागत शाला में दाखिल हुए जिसकी खुली कक्षाएँ थीं।

क्लॉड ने मुझे एक लड़के के बारे में बताया जो पाँचवीं कक्षा में पढ़ता था। यह लड़का गरीब था और अपने परिवार के साथ हाल ही में एपलेशिया पहाड़ों से मिशिगन आया था। वह पढ़ाई में बहुत अच्छा नहीं था। अतः उसे अपनी आयु से एक या दो साल निचली कक्षा में दाखिल किया गया। इस तरह वह अपनी कक्षा का सबसे बड़ा बच्चा था। दाखिल होते ही वह अपनी कक्षा का सबसे बड़ा दादा और परेशान करने वाला बच्चा सिद्ध हुआ। दूसरे सभी बच्चे उसे नापसन्द करते थे और उससे डरते थे। कुछ समय तक शिक्षिका अपने स्तर पर स्थिति से निपटने की कोशिश करती रहीं। पर जल्द ही वे उसे प्रधानाचार्य के पास भेजने लगीं। कुछ संवादों के बाद क्रौफोर्ड उस लड़के को समझा सका कि दूसरे बच्चों का उसे नापसन्द करने और उससे दूर रहने का कारण शायद यह नहीं था कि वह गरीब था या उसके बोलने का तरीका भिन्न था। वे शायद इसलिए ऐसा करते थे क्योंकि उसका आचरण इतना खराब था। और अगर वह अपना

व्यवहार बदले, सहायक और दोस्ताना व्यवहार करे तो बच्चे भी शायद अधिक दोस्ताना व्यवहार करने लगे। लड़के ने कहा कि वह कोशिश करेगा। कुछ समय के लिए स्थितियाँ बदलीं। बारबार प्रधानाचार्य के कमरे में जाना बन्द हुआ। शिक्षिका कहने लगीं कि दूसरे बच्चों के साथ उसका व्यवहार बेहतर होने लगा है। परन्तु करीब एक महीने बाद लड़का अपने पुराने आचरण पर लौटने लगा। वह दूसरों को छेड़ने लगा। वह फिर से क्रौफोर्ड के कार्यालय में लाया गया। उन्होंने कहा, “मैंने सोचा था कि तुमने दूसरों से अच्छा व्यवहार करने का, दोस्ती करने का निर्णय लिया था। और सब कुछ ठीकठाक चल रहा था। पर अब लगता है कि तुमने अपना निर्णय बदल लिया है और सबसे दुश्मनी ही करना चाहते हो?” लड़के ने कहा, “हाँ।” क्रौफोर्ड ने जानना चाहा कि ऐसा क्यों। लड़के ने कुछ सोचकर कहा कि “यही अधिक सुरक्षित तरीका है।”

हो सकता है कि इस कथा में कुछ और भी हो, जिसे मैं नहीं जानता या क्रौफोर्ड भी न जानता हो। सम्भव है कि दूसरों से दोस्ती करने की राह में उस लड़के को ऐसी बाधाओं का सामना करना पड़ा हो जिन्हें वह पार न कर पाया हो, या उसे लगा हो कि वह उन बाधाओं को लॉघ ही नहीं सकता। यह भी हो सकता है कि जैसे-जैसे वह दूसरे बच्चों को जानने लगा हो उसे (और शायद दूसरे बच्चों को भी) यह लगने लगा हो कि वह दूसरों से तमाम अर्थों में भिन्न है - और हमारी ही तरह बच्चों को भी भिन्न और अपरिचित चीज़ें पसन्द नहीं आती हैं। सम्भव है कि वह अपनी गरीबी के प्रति अधिक सचेत हो गया हो। उसे शर्म आने लगी हो। हो सकता है कि दूसरे बच्चों के माता-पिता ने यह सुझाया हो कि वह बड़ा-सा लड़का उनके लिए उपयुक्त दोस्त नहीं है। गरीबी और अनुभव की कटु समझ से सम्भवतः उस लड़के को लगा हो कि जैसे-जैसे वह बड़ा होता जाएगा उसमें और दूसरों के बीच का फासला कम नहीं होगा बल्कि बढ़ता ही जाएगा। यह भी सम्भव है कि अगर उसने धीरज और आत्मविश्वास रखा होता तो स्थितियाँ अन्ततः सुधर जातीं।

पर इतना स्पष्ट है कि उसने सोची-समझी असफलता की रणनीति अपनाई। इसे कई बच्चे और बड़े भी स्कूल में या स्कूल के बाहर अपनाते हैं ताकि वे स्वयं को उस निराशा, अपमान, शर्म व पीड़ा से बचा सकें जो उस वक्त महसूस होती है जब आप अपने लक्ष्य को हासिल करने में असफल रहते हैं। सम्भव है कि इस लड़के ने लूइस वैडहैम्स के दादाओं की तरह सोचा हो कि जो वह ठीक से कर सकता है उसे ही करते जाना अधिक सुरक्षित है। यानी दुश्मन बनाना, लोगों के मन में अपने प्रति घृणा और भय जगाना उसके लिए अधिक आसान था, बनिस्बत वह करने के जो उसने कभी नहीं किया था। ऐसा करना वह जानता नहीं था और उसे भरोसा ही नहीं था कि वह ऐसा कर पाएगा। यानी

दोस्ताना व्यवहार करना, ऐसा आचरण करना कि लोग उसे पसन्द करें, उस पर विश्वास करें।

समरहिल में 1965 की वसन्त में स्कूल की आमसभा में एक आठ साल के बच्चे ने एक ग्यारह वर्षीय बच्चे पर धौंस जमाने का आरोप लगाया। उसकी शिकायत थी कि बड़ा लड़का हमेशा उसके पीछे पड़ा रहता है। उसे चिढ़ाता है, अपमानित करता है, धकियाता और ठोकता है। बड़ा लड़का बैठक की भीड़भाड़ से कुछ दूर दीवार से पीठ टिकाए खड़ा था। सभापति ने उससे पूछा कि शिकायत सच थी या नहीं। बड़े लड़के ने इंकार नहीं किया। इस पर सभापति ने जानना चाहा कि, “तुम इसी लड़के को क्यों सताते हो? तुम्हारी ऐसी शिकायत पहले भी आ चुकी है।” दूसरी आवाज़ें भी उठीं, “हाँ, बताओ तो ऐसा क्यों करते हो?” बड़े लड़के ने बुदबुदाते हुए कहा कि छोटे बच्चे उसका दिमाग खराब कर देते हैं। आधी दर्ज़न आवाज़ों ने इस पर सुझाया, “तो ठीक है। तुम उससे दूर रहो। वह तो तुम्हारा पीछा नहीं करता। अगर तुम्हें उसकी उपस्थिति परेशान करती है तो उसके रास्ते में ही मत पड़ो।” तब किसी ने याद दिलाया कि क्योंकि यह शिकायत पहले भी आई थी, इसलिए इस दादा को हतोत्साहित करने का कोई उपाय ढूँढना होगा। कई तरह की सज़ाओं के सुझाव आए और बुद्धिमानी से नकार दिए गए, क्योंकि उनसे फायदा नहीं नुकसान ही होता। अन्ततः यह तय हुआ कि अगर बड़ा लड़का फिर से सताए तो छोटा तुरन्त आमसभा बुला सकेगा ताकि मामले पर निर्णय लिया जा सके। मुझे यह पता नहीं चला कि इससे उसकी दादागिरी रुकी या नहीं। पर उस समय मुझे लगा कि समरहिल ने दादागिरी की इस समस्या का एक मानवीय और समझदारी भरा तरीका ढूँढ निकाला है। पर अब मुझे इस निष्कर्ष पर शक है। क्योंकि सम्भव यह भी है कि वह दादा जो सबके ध्यान और सरोकार का केन्द्र बना था उसे निश्चित रूप से सज़ा नहीं बल्कि वह मिल सका जो वह दरअसल चाहता था - सबका ध्यान। हाँ, यह तो मिला ही पर उससे अधिक भी बहुत कुछ मिला।

ये विनाशकारी लोग, ये स्टेनली, स्टीव और जेसन, खुद से कहते हैं: मैं बिलकुल निकम्मा हूँ। मुझे कोई पसन्द कर ही नहीं सकता। अगर मैं दोस्ती करने की कोशिश करूँ तो दूसरे बच्चे मेरी इस पहल को नकार देंगे और मैं गधा ही लगूँगा। सो मैं यह कोशिश ही नहीं करूँगा ताकि स्वयं को निराशा, दुख और असफलता से बचा सकूँ। और तो और मैं उन्हें मुझे नकारने की सन्तुष्टि भी नहीं पाने दूँगा। उन्हें यही जताऊँगा कि उनकी दोस्ती पाने योग्य वस्तु तक नहीं है। और मैं जो कुछ भी करूँ अन्ततः ये सारे के सारे मेरे विरुद्ध ही होंगे। सो मैं पहले ही उन्हें इतना सताऊँगा कि वे भविष्य में जो कुछ करें उस सबका

अग्रिम चुकारा हो जाए। अतः यह पहले से जानबूझकर अपनाई गई असफलता की नीति, वैमनस्य की नीति बन जाती है। खुद से घृणा करने वाले ये लोग सोचते हैं कि खुद को साबित करने का, अपने आत्मसम्मान को बचाने का एक ही उपाय है। और वह यह कि मैं उनके द्वारा मेरी “मदद” करने के सारे प्रयासों को पहले ही विफल कर दूँ। क्योंकि मदद करने की यह वृत्ति भी तो यही जताने की कोशिश है कि वे मुझसे कितने बेहतर हैं। अतः जब उस खराब बच्चे को एक बार फिर से स्कूल की आमसभा में चर्चा के लिए हाज़िर किया जाता है (हम जेसन की मदद कैसे करें?) तो उसे वह भी मिलता है जिसकी उसे चाह थी। या कम से कम उन तमाम चीज़ों में से जिनके मिलने की वह उम्मीद कर सकता है, इसी की चाहत सबसे ज़्यादा थी। यानी वह बाज़ी पलटने में सफल हो जाता है। सबसे यह अनुरोध करने की बजाए कि मुझे प्यार करो! कृपया प्रेम दो! वे लोग ही उससे विनती करते हैं - हम तुम्हारी मदद कैसे करें? कैसे यह विश्वास दिलाएँ कि हमें तुम्हारी परवाह है? अर्थात् जिस चीज़ को नकारने की उनके पास ताकत है उसकी भीख माँगने के बदले वह स्वयं दूसरों की याचना टुकराने वाला हठीला, गर्वीला राजकुमार बन जाता है। यह कुछ-कुछ टुकराए गए प्रेमी की फन्तासी के समान है जिसमें टुकराया गया प्रेमी अपनी प्रेमिका को गिड़गिड़ाते सुन कुछ दुख और पूरी सख्ती के साथ यह कहकर नकार देता है, “ना, तुम्हें मौका दिया जा चुका है। अब बहुत देर हो चुकी है।” यहाँ यह दिवास्वप्न का खेल है जिसे बैठकों में ये बच्चे खेलते हैं। हर बार जब वे मुसीबत में उलझते हैं, उन्हें इस महान किरदार को निभाने का एक नया अवसर मिलता है। यही तो उनकी एकमात्र ताकत और सन्तोष है।

हमें यह बात साफ-साफ समझ लेनी होगी कि समरहिल, लूइस वैडहैम्स या फर्स्टस्ट्रीट स्कूल जैसी किसी मुक्त या वैकल्पिक शाला में किसी कठोर व परम्परागत शाला की ही तरह पूर्णतः विफल होना सम्भव है। ऐसी किसी शाला में जहाँ स्कूल का तयशुदा काम है सबको परीक्षाओं में अच्छे अंक पाने के लिए तैयार करना, वहाँ जो बच्चा यह नहीं कर पाए वह असफल है। पर जिस शाला का ध्येय बच्चों को खुश रहना, प्रेम करना और दूसरों का प्यार पाना सिखाना होता है वहाँ जो यह नहीं कर पाता वह भी उतना ही असफल है। और सम्भवतः इस प्रकार की असफलता की शर्म और पीड़ा अधिक भी होती है। क्योंकि यहाँ का छात्र वास्तव में स्कूल के उद्देश्यों को खुद भी मानता है। वह प्रेम और आनन्द में सफल होना चाहता है। वह यह भी बखूबी जानता है कि बाकी लोग उसकी मदद भी कर रहे हैं। और फिर भी अगर वह असफल होता है तो वह खुद के अलावा किसी दूसरे को दोषी नहीं ठहरा सकता।

टिम, जेसन, डॉनल्ड जैसे लड़कों में स्नेहमय होने का अहसास जगाने का

शायद कोई रास्ता ही नहीं है। हम शायद सिर्फ इतना भर कर सकते हैं कि उन्हें ऐसे अनुभव उपलब्ध करवाएँ कि वे कम से कम कुछ समय के लिए यह भूल जाएँ कि वे स्नेहिल हैं या नहीं।

किसी स्नातक कक्षा के लिए दिए गए विदाई उद्बोधनों में सर्वश्रेष्ठ भाषण मैंने डेनवर स्थित, कॉलोरेडो रॉकी माउन्टेन स्कूल के डीन पॉल रॉबर्ट्स को देते हुए सुना था। उन्होंने छात्र-छात्राओं के एक ऐसे समूह को जिसमें कुछ बेहद दुखी, गड्ढमड्ढ, खुद से नफरत करने वाले किशोर-किशोरियाँ थे कहा था: 1. खुद को स्वीकारो, 2. खुद को भुला दो, 3. कुछ ऐसा करने को तलाशो और उसकी फिक्र और देखभाल करो जो तुम्हें खुद से भी अधिक महत्वपूर्ण लगे। ये सारी की सारी वैसी परम्परागत बातें हैं जिसे किशोर वर्ग उबासियों के साथ सुनता है। पर जो बात दूसरे वयस्कों के मुँह से ऊबाऊ, चाशनी घुली, बेमानी लग सकती थी, उस बार सटीक सत्य में बदल गई। जब डीन रॉबर्ट्स ने उन किशोर-किशोरियों से कहा कि वे स्वयं को वे जैसे हैं वैसे ही स्वीकारें और सब भूल जाएँ, तो वे उन्हें एक ऐसी बात याद दिला रहे थे जिसे ये किशोर स्वयं गम्भीरता से लेते हैं। यह एक ऐसी बात थी जो उन्हें लगातार उलझाए रहती है। इतना कि उनका समूचा ध्यान इसी पर केन्द्रित हुआ रहता है। वह यह कि वे दूसरों की नज़र में कैसे लगते हैं? लोग उन्हें कितना बुरा मानते या समझते हैं? डीन रॉबर्ट्स स्वयं बेहद साधारण शकल सूरत वाले हैं। ऐसे चेहरे ही डीन रॉबर्ट्स जैसे लग सकते हैं जो या तो चोट या रोग से बिगड़े हों, या जिन्हें शल्य चिकित्सकों ने कई ऑपरेशनों द्वारा धीरे-धीरे फिर से ठीक किया हो। परन्तु उन्होंने अपनी इस कुरूपता को इतनी सम्पूर्णता से स्वीकारा था कि वे उसे पूरी तरह बिसरा सके थे। और उनके साथ चन्द मिनट बिताने के बाद आप स्वयं भी इस तथ्य को पूरी तरह भूल सकते थे। आपको केवल उनका सौम्य, शान्त, स्नेहिल और दोस्ताना चेहरा ही नज़र आता था। अपने भाषण के प्रारम्भ में उन्होंने अपने बारे में एक मज़ाक कुछ इस मज़ाकिया अन्दाज़ में, बिना किसी दया भाव के सुनाया कि हम सब उनके साथ बेहिचक उठाके मारकर हँस ही सकते थे। उन्होंने बताया कि डेनवर में यह कहावत प्रचलित है कि पॉल रॉबर्ट्स दोगला नहीं है क्योंकि अगर ऐसा होता तो वह अपना वह चेहरा नहीं पहने रहता जो उसका है। जिस ढंग से यह किस्सा सुनाया गया वह अपने आप में मज़ाकिया था। और उसे सुनाने वाला व्यक्ति स्वयं इस कदर कुरूप था कि स्वयं से नफरत करने वाला कोई भी छात्र अपने खराब से खराब दुःस्वप्न में भी उस चेहरे की कल्पना नहीं कर सकता था। इस बात ने उनके शब्दों को बेहद अर्थपूर्ण बना दिया।

ज़ाहिर है कि स्वयं को स्वीकारना और भुला देना तमाम कोशिशों के बावजूद एक आसान काम नहीं है। यही कारण है कि उनकी सलाह का दूसरा हिस्सा

भी इतना महत्वपूर्ण है - करने को कुछ ऐसा ढूँढ लो जिसको तुम बेहद पसन्द करो, जिसकी देखभाल करो, जिसमें खुद को झोंक सको और जो स्वयं तुमसे अधिक महत्वपूर्ण बन सके। मैंने जब बीसवें वर्ष में प्रवेश किया तो मेरे मन में कुछ ऐसी भावना थी कि कोई मुझे खास प्यार नहीं करता और मुझमें कुछ ऐसा है भी नहीं जिसके कारण मुझे चाहा जाए। मुझे भी अपने में ऐसे गुण नहीं दिखते थे जिन्हें मैं पसन्द करूँ और ढेरों ऐसी बातें नज़र आती थीं जो मैं नापसन्द करता था। इस स्थिति से मैं इसलिए नहीं उबरा कि लोगों ने पास बैठकर मुझे यह समझाया कि मैं ठीक-ठाक बन्दा हूँ और वे मुझे प्यार करते हैं। बल्कि शायद किस्मत और बचाव के सहज बोध से ही मैं ऐसा काम तलाश सका जिसमें मुझे अपनी पूरी ऊर्जा, कौशल और ध्यान लगाना पड़ा। ऐसा काम जो केवल मेरे लिए नहीं वरन् कई अन्य लोगों के लिए भी महत्वपूर्ण था और जिसे अच्छे से करना ज़रूरी था। मेरा पहला काम था सबमरीन अफसर का। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान मैं यू.एस.एस. बारबेरो (एस.एस. 317) नामक सबमरीन में काम कर पाया। मेरा दूसरा काम था युद्ध के बाद, छह वर्षों तक विश्व संघीय सरकार के आन्दोलन के साथ। दोनों ही दृष्टान्तों में, और दूसरे दृष्टान्त में तो पहले से भी ज़्यादा, मैं इस तरह के तमाम लोगों के साथ ऐसा कुछ करने में जुटा जो उस वक्त हमें बेहद महत्वपूर्ण और सार्थक लगा था। हमने अपनी समूची ऊर्जाएँ, पूरे कौशल लगाए। और मैं खुद को भूल गया। कम से कम मैं उस “स्व” को भूल गया जिसके साथ मैं बड़ा हुआ था। और जिसे मैंने नापसन्द करना सीखा था। छह वर्षों तक मैंने खूब यात्राएँ कीं। अनेकों लोगों से मिला। उनके साथ समय बिताया। विश्व सरकार पर बोला और लिखा। उसका क्या अर्थ हो सकता है, हम उस लक्ष्य को कैसे हासिल कर सकते हैं, अपने काम से दूसरों को कैसे जोड़ा जाए। हम आन्दोलन की स्थानीय शाखाओं की चर्चा करते, जिन्हें हम बना या चला रहे थे और हमारे सामने तमाम सवाल थे। वित्त का बन्दोबस्त कैसे हो, बेहतर बैठकें कैसे आयोजित हों, नए सदस्य कैसे तलाशें, प्रचार-प्रसार कैसे करें, शेष जनता तक कैसे पहुँचें। मैं ऐसे ही लोगों के साथ चर्चाएँ करता, काम करता और रहता। क्रमशः अहसास हुआ कि हम साथ-साथ काम करने वालों की दोस्ती हो गई है। घनिष्ट मित्रता हो गई है। और वे सभी मुझे सच में पसन्द करते हैं। कालान्तर में डीन रॉबर्ट्स की सलाह सुनकर मुझे अहसास हुआ कि मैंने अनजाने ही ठीक यही रास्ता चुना था। क्योंकि मैं सबमरीन या वैश्विक सरकार की ओर अपनी व्यक्तिगत समस्याएँ सुलझाने नहीं गया था। मैंने तो ये काम इसलिए किए थे क्योंकि मुझे वे करने योग्य लगे थे।

हमारे नारखुश किशोर-किशोरियों के सामने जो समस्या है, उसका यह एक अंश मात्र है। आज समाज में करने योग्य ऐसे कामों की बेहद कमी है (या इस तरह

की कमी का आभास होता है) जिन्हें कोई व्यक्ति आन्तरिक विश्वास और समूची ऊर्जा के साथ कर सके। हमारे इर्दगिर्द अधिकांश लोग ऐसे काम करते हैं जो वास्तव में बेईमानी भरे या विनाशकारी न भी हों तो भी नीरस, चुनौतीहीन, उबाऊ या बेवकूफी भरे लगते हैं। अच्छे सरोकार और उनसे जुड़े काम इसलिए बेमानी लगने लगते हैं क्योंकि वे पहले से ही असफल या हारे हुए लगते हैं। और जो व्यक्ति स्वयं को हारा हुआ या असफल पाता हो, वह अगर दूसरे थके-हारे लोगों से मिलकर, आगे भी हारने में ही जुटे तो भला किसी की क्या मदद हो सकेगी। विश्व सरकार के लिए मैंने जो कुछ किया वह मुझे इसलिए उत्तेजक और सार्थक लगा था क्योंकि कई वर्षों तक हम सबको यह विश्वास था कि अगर हमने अपना काम ठीक प्रकार किया तो विश्व सरकार की स्थापना वास्तव में सम्भव है।

इन दुखी और विनाशकारी युवाओं को जिस चीज़ की आवश्यकता है वह यह नहीं कि वे अपने पीड़ादायक बचपन को फिर से जी सकें। बल्कि ज़रूरत इस बात की है कि वे उससे दूर भाग सकें और किसी दूसरी ही तरह की ज़िन्दगी जी सकें। उन्हें जीने के लिए एक छोटी अधिक सुरक्षित दुनिया की नहीं, बल्कि शायद एक बड़ी दुनिया की ज़रूरत है। शायद हम सबकी तरह उन्हें भी यदाकदा एक छोटी, सुरक्षित दुनिया की भी ज़रूरत हो सकती है जहाँ वे छिप सकें, आराम कर सकें, अपनी ताकत व अपने साहस को फिर से पा सकें। पर यह आश्रय, यह सुरक्षित दुनिया उन्हें सिर्फ कभी-कभार ही चाहिए। पर अधिकांशतः किसी भी पीड़ित व्यक्ति को, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, इतनी बड़ी दुनिया दरकार है जहाँ वह ऐसा काम तलाश सके जिसे करते हुए वह स्वयं को स्वीकारे और फिर भुला सके।

एक लड़का जिसे मैं निकट से जानता हूँ बचपन में एक छोटे से स्कूल में पढ़ने गया। वह स्कूल शायद लूइस-वैडहैम्स या समरहिल की तरह संवेदनशील तो न था, पर बुरा भी न था। वह दस, ग्यारह और बारह साल की उम्र में वहाँ बहुत खुश नहीं था। चिन्तित और नेकनियत वयस्क हमेशा उसके इर्दगिर्द घूमते रहते थे और प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जानना चाहते थे कि मामला क्या है और वे किस तरह उसकी मदद कर सकते हैं। पर इससे उसे कोई मदद नहीं मिलती थी। बल्कि वह बेहद बैचन हो ऐसी जगह में जीना चाहता था जहाँ लोग इतने व्यस्त हों कि उन्हें यह परवाह करने की फुर्सत ही न हो कि वे सुखी हैं या दुखी। क्योंकि अगर लोग उसकी पीड़ा को भूल पाते, या उसकी उपेक्षा कर पाते, तो शायद वह खुद भी यही कर पाता।

कई किशोर-किशोरियों को, खासकर जो दुखी हों, एक ऐसे अवसर की ज़रूरत



या इच्छा होती है जिसमें वे दूसरों की मदद कर सकें। पीटर मान के शब्दों में सबको यह महसूस करने के अवसर की ज़रूरत है कि वे “ज़िन्दा हैं, उपयोगी हैं और लोगों को उनकी ज़रूरत है।” लिन कन्वर्स, जिन्होंने पैगी ह्यूज़ के साथ मिलकर चार्ल्सटन (बॉस्टन के एक मुहल्ले में) साहसिक - कबाड़ - निर्माण खेल मैदान प्रारम्भ किया था, ने मुझे बताया कि वे स्कूल छूटने के बाद एक रिहाइशी परियोजना के खाली मकान में कुछ बच्चों के साथ काम करती थीं। उस समूह में भी कुछ दादा किस्म के परेशान करने वाले बच्चे थे। पर उन्होंने बताया कि इनमें से दो हट्टे-कट्टे, जीवन्त, तेज़-तर्रार और असम्भव आठ या नौ साल के दादा उस वक्त मददगार, सहकारी और प्रसन्न बच्चों में बदल जाते थे जब उन्हें वास्तव में कुछ कठिन व भारी काम मिलते थे। पर वह सच में कठिन काम होना चाहिए था। न कि उन्हें व्यस्त और शैतानी से दूर रखने के लिए सोची गई कोई परियोजना जिसे वे उनकी मदद के बिना खुद ही कर सकती थीं। पर अगर उन्हें कुछ वज़नी सामान उठाना या लाना होता, या ऐसा काम करना होता जिसमें कौशल और ऊर्जा की आवश्यकता होती तो ये लड़के बड़ी चतुराई से, बिना थके तब तक जुटे रहते जब तक वह काम पूरा न हो जाता। इसके बाद वे कुछ सुस्ताते और अपनी खुराफातें शुरू कर देते।

एक नई जगह पर फिर से शुरुआत करना हम सबकी ज़रूरत है। खासकर तब जब सब कुछ गड़बड़ा गया हो। जब छोटे बच्चे कुछ कर रहे हों और सब कुछ गड़बड़ा रहा हो तो वे कहते हैं “रुको!” यह वे किससे कहते हैं? वे कहते हैं काल या समय से। वे कहते हैं वापस मुड़ो। मुझे एक मौका और दो। मैं अपने जीवन में उस वक्त को याद करता हूँ जब मुझे बड़ी शिद्वत से लगा था कि समय व परिस्थितियों ने मुझे एक और अवसर दिया है। कॉलेज की पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद, जो मुझे कतई अच्छी नहीं लगी थी, मैं तीन महीने के लिए की वैस्ट स्थित सबमरीन स्कूल में गया। वह मुझे और भी खराब लगा। तीन महीने बाद मैं कनेक्टिकट, न्यू लन्दन के सबमरीन अधिकारियों के स्कूल में गया। पतझड़ की खूबसूरत, साफ व ठण्डी शाम थी। हम पहाड़ी पर बसे अविवाहित ऑफिसरों के रिहाइशी आवासों की ओर बढ़ रहे थे कि मन में एक साहसिक अभियान का, भावी नए जीवन की आशा का भाव जगा। ऐसा नहीं था कि मुझे यह लगा हो कि मैं भविष्य में हमेशा ही प्रत्येक परिस्थिति पर काबू कर सकूँगा। पर मन में कहीं एक दूसरे अवसर को पा लेने का भाव ज़रूर जगा था। उस वक्त मेरे मन में एक ऐसी दुनिया की ओर बढ़ने का भाव था जहाँ लोग मुझे नहीं जानते थे। इसलिए मुझे लेकर उनके मन में कोई तयशुदा विचार नहीं थे। सम्भव है कि दुखी बच्चों व किशोरों को एक बार जी लिए गए बचपन या प्रेम से भी अधिक ऐसे किसी अवसर की आवश्यकता हो।